ओ३म्

संस्कृत साहित्य

का

ऐतिहासिक अनुशीलन

इन्द्र वेदालङ्कार

विद्यावाचस्पति

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी

प्रथमावृत्ति ५०० { सं० १९७२ वि० { मूल्य ।=)

गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में नन्दलाल सहायक मुख्याधिष्ठाता के प्रबन्ध से मुद्रित ।

तथा प्रकाशित

प्रस्तावना

यह निबन्ध विद्या-वाचस्पति की उपाधि प्राप्त करने के लिये लिखा गया था। गुरुकुल की ओर से महामहोपाध्याय डा० सतीश चन्द्र विद्याभूषण एम० ए० प्रिन्सिपल संस्कृत कालेज कलकत्ता तथा महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा एम० ए० ने इसे देख कर इस योग्य समझा कि इस के तथा वैदिक-देवता-विषयक निबन्ध के आधार पर मुझे विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की जाय। वह निबन्ध जनता की सेवा में उपस्थित है।

इन्द्र

ओ३म्

प्रारम्भिक सूचना

यह निबन्ध नई घटनाओं या नई बातों के आविष्कार का दम नहीं भरता। इस में नवीनता प्रतिपादन शैली की है। लेखक का विचार है कि अभी तक भारत के इतिहास और प्राचीन संस्कृत साहित्य का एक दूसरे के सम्बन्ध में अनुशीलन नहीं किया गया। दोनों के एक दूसरे पर पड़े हुए प्रभावों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया। वस्तुतः अनुशीलन की यह प्रणाली बहुत ही आवश्यक है। कई विषयों की घुण्डियां इसी रीति पर अनुशीलन करने से खुल सकती हैं। जिस शैली पर इस निबन्धमें इन दोनों विषयों पर विचार किया गया है, उसे ही लेखक इस की नवीनता समझता है। राजनीतिक घटनाओं का तथा साधारण सामाजिक तथा धार्मिक दशा का हमारे साहित्य पर जो प्रभाव पड़ता रहा वही इस निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है।

निबन्ध में प्राचीन साहित्य के विषय में जो कुछ लिखा गया है, वह केवल अर्वाचीन संस्कृत साहित्य को समझने के लिए लिखा गया है वस्तुतः इस का विषय विस्तार वाल्मीकि-रामायण से ही प्रारम्भ होता है।

इस निबन्ध में कवियों के समयनिर्धारण का स्वाधीन यत्न नहीं किया गया। यद्यपि कई कवियों के समय के सम्बन्ध में अनेक वक्तव्य बातें कही जा सकी हैं-परन्तु यहां उन का प्रसंग नहीं है। यहां समय की मोटी अबतक मानी हुई बाह्य रेखाओं से ही काम लिया गया है।

निवेदक

इन्द्र

ओ३म्

नवीन संस्कृत साहित्य

की

आधार शिलायें।

कौनसी आधार शिलाओं पर नवीन संस्कृत साहित्य का मन्दिर बनाया गया है - इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व नवीन संस्कृत साहित्य को, रचनाकी दृष्टि से, कुछ भागों में विभक्त कर लेना अच्छा होगा। अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में तीन प्रकार की रचना पाई जाती है—

(१) पद्यरूप

(२) गद्यरूप

(३) सूत्र रूप

इन तीन प्रकार की रचनाओं में सारे साहित्य भण्डार का अंतर्भाव हो जाता है।

सामान्यतया हम कह सकते हैं कि अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का आधार प्राचीन संस्कृत—अथवा देव वाणी साहित्य पर है। किन्तु इतना कथन अपर्याप्त है। इस से कुछ और अधिक स्पष्टता के साथ ऐतिहासिक सम्बन्ध का पता लगना चाहिये।

विशेषतया हम कह सकते हैं कि पद्य रचना की आधार शिला वैदिक रचना, गद्य रचना की आधार शिला ब्राह्मण ग्रन्थ और सूत्र रचना की आधार शिला भी ब्राह्मण ग्रन्थ ही हैं।

यों देखें तो सारे साहित्य-भण्डार का आधार वेद ही हैं। क्योंकि चाहे गद्य हो चाहे पद्य हो—पूर्व रचना का उत्तर रचना पर प्रभाव पड़ता है। गद्य की रचना के लिये वही भाषा चाहिये. जिसका प्रयोग पद्य रचना में होता हैं। इस लिये सब से प्रथम रचना होने के कारण वेद ही संस्कृत साहित्य की मूल शिलायें है। इतना ही नहीं। वेदों में-विशेषतया यजुर्वेद और अथर्ववेद में-बहुत स्थानों पर गद्यमयी रचना मिलती है। जैसे यजुर्वेद में:—

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहापां मोदाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा वायवे स्वाहा विष्णवे स्वाहेन्द्राय स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा मित्राय स्वाहा वरुणाय स्वाहा । यजु० २२।६ ।

अथर्ववेद में:—

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।१।
पयश्चवा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथे रश्नाति ।२।
प्रजां च वा एष पशूंश्च ।३। कीर्तिं च वा एष यशश्च ।४।
श्रियं च वा एष संविदं च ।५। एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रिय स्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात् ।७।८ काण्ड । सू० ६ ।

वेद का पंक्ति छन्द प्रायः गद्यमय वाक्य या वाक्य समूह का ही नाम है। पद्य उस काव्य को कहा जाता है जो इस प्रकार के विशेष विशेष टुकड़ों में बांटा गया हो, जो एक दूसरे के साथ कोई विशेष सम्बन्ध रखते हुए संगीत के लिये उपयोगी हो सके। यह ठीक है कि छन्दः शास्त्र के बनाने वालों ने यजुर्वेद के प्रत्येक मन्त्र का छन्द लिख दिया है। किन्तु किसी भी गद्य के गुरु लघु का क्रम माप लेने और उसका नाम एक छन्द रख देने से वह लक्षण सहित छन्द कहा सकता है। जैसे:—

स वनं गच्छति ।

एक लक्षणकार कह सकता है कि जिसके आदि में दो लघु हों, फिर दो गुरु हों, और अन्त में दो फिर लघु हों वह 'मृलक्षण' छन्द कहाता है तो इस वाक्य को भी पद्य कहना चाहिये। किन्तु यह असम्भव है। असम्भव इस लिये है क्योंकि इसकी रचना में एक रसता-परस्पर सम्बन्ध—और संगीत के साथ सहानुभूति नहीं है। इसी प्रकार यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी अनेक गद्य भाग हैं, जो वस्तुतः वेदों की महिमा को घटाते नहीं बढ़ाते हैं, क्योंकि उनके कारण वेदों की रचना सम्पूर्ण हो जाती है।

इस लिए वस्तुतः पद्य गद्य मयी रचना का आदि स्रोत वेद की रचना ही है। परन्तु वेद में गद्य की स्थिरता नहीं है। गद्य की प्रथम रचना ब्राह्मण ग्रन्थों में ही मिलती है।

वेद दो प्रकार से अर्वाचीन पद्य रचना के आधार हैं।

(१) विचारों के उद्भावन द्वारा।

(२) छंदों की बनावट द्वारा।

वेद ही भारतीय कविता के प्रथम आधार हैं। सारी आगे की कविता के—वाल्मीकिरामायण के--भी उपजीव्य वेद ही हैं। यह ठीक है कि वेदों में पद्म और भ्रमर और चकोर का वर्णन नहीं है— ये वर्णन के शीर्षक वाल्मीकि में ही पहले पहल पाए जाते हैं, परन्तु हमारी कविता की सम्पूर्ण मुख्य २ विशेषताएं वेद में पाई जाती है।

(क) *उच्चआचार सम्बन्धी आदर्श* भारतीय कविता का आचार और धर्मसम्बन्धी उच्च आदर्श हर एक नए देखने वाले को अपनी ओर खींचता है। साहित्य के कठोर समालोचक भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि हमारे काव्यों में—ऐसे काव्यों में भी जिन का मुख्य विषय आचार सम्बन्धी उपदेश नहीं है—एक आचार और धर्म सम्बन्धी लहर सी चलती हुई दिखाई देती है। हमारे काव्यों में विशेष से सामान्य सिद्धान्त निकालने के लिए या विशेष की सामान्य सिद्धान्त से पुष्टि करने के लिए अर्थान्तरन्यास का जितना प्रयोग आता है, उतना शायद ही किसी अन्य भाषा के काव्यों में आता हो। यह निष्कारण नहीं है। इस का एक भारी कारण यह है कि हमारा आदि काव्य धर्मपुस्तक है। और किसी जाति की धर्मपुस्तक हृदय को इतना नहीं बेध सकती जितना वेद बेध सकते हैं--क्योंकि वेद पद्यमय है। धर्मपुस्तक के आदि काव्य होने का ही यह लाभ है कि हमारी काव्य-वाटिका में आचार और धर्म का सौरभ प्रधान है।

(ख) *प्रकृति प्रेम*- हमारे काव्य संसार में एक विचित्रता यह है कि उस में प्रकृति के वर्णन को एक विशेष स्थान दिया जाता है। वाल्मीकि कालिदास भवभूति बाण आदि कवियों के काव्य इस में प्रमाण है। अन्य किसी कवि की कविता से यदि तुलना ही करना हो तो शेक्स्पियर और कालिदास के नाटकों की आलोचना कर ली जा सकती है। नाटकों की रचना में दोनों कवि अपूर्व सिद्धहस्तता रखते हैं। दोनों की उक्तियां ग़ज़ब की हैं। किन्तु दोनों के नाटकों को समालोचनात्मक दृष्टि

से देखने वाला पुरुष कहे विना नहीं रह सकता कि कालिदास के नाटकों में प्रकृति का--वन वृक्ष पुष्प और पर्वतादि के वर्णन का--कोई भी अवसर हाथ से नहीं छोड़ा जाता, जहां दूसरी ओर शेक्स्पियर ऐसे अवसर को छोड़ कर झटपट मानषिक भावों की ओर भाग जाता है। सम्भवतः यहां वर्ड्सवर्थ आदि कवियों का नाम याद आजाय और प्रतीत हो कि उन्होंने भी तो प्रकृतिदेवी के सुन्दर रूप को देखने में कमी नहीं की। वहां हमारा उत्तर यह है कि ये कवि नए हैं यह कहना कठिन है कि इतने समय में देशों की सरस्वती का एक दूसरे पर कितना प्रभाव पड़ा। इस प्रकृति प्रेम का क्या कारण है? जिन लोगों ने कभी वेद का शान्तदशा में पाठ किया है, उन्हें इसका कारण बताने की आवश्यकता नहीं। वेद में सूर्य चन्द्र नदी उषा आदि प्रकृति के मनोहर दृश्यों का ऐसा तात्विक वर्णन है कि शायद ही उसका समकक्ष वर्णन कहीं मिल सके। संस्कृत साहित्य ने यह जायदाद अपने पूर्व पुरुषा वेद से ही प्राप्त की है।

(ग) *भाषा*—सब से मुख्य और साधारण कारण, जो वेदों को अर्वाचीन ही क्या प्राचीन देव वाणी साहित्य का भीपिता सिद्ध करता है - यह है कि देववाणी का प्रथम प्रकाश वेदों में ही हुआ है। उस के सारे गुणों और सारी विशेषताओं का प्रारम्भ वेदों से ही होता है।

इन तीन प्रभावों के अतिरिक्त पद्य काव्य पर वेदों का विशेष प्रभाव यह है कि संस्कृत साहित्य के प्रायः सारे मुख्य २ छन्द वेदों के छन्दों के ही कुछ २ बदले हुए रूपान्तर हैं। उदाहरण के लिए दो चार ही पर्याप्त होंगे -

वेद का अनुष्टुप् देखिए—

तत्सु नो विश्वे अर्य्य आ सदागृणन्ति कारवः।

बृवुं सहस्रसातमं सूरिंसहस्रसातमम्। ऋ०। ६। ४।४६। ३३

इस मंत्र के प्रथम और तृतीय पद के सातव वर्ण को लघु की जगह गुरु कर देने से और दूसरे और चौथे पद के तीसरे वर्ण को भी गुरु कर देने से सर्वांग सम्पन्न लौकिक अनुष्टुप् बनकर तय्यार हो जायगा।

वेद का त्रिष्टुप् छन्द देखिए -

आनो वहिष्ठा वहतु स्तवध्यै रथो वाजा ऋभुक्षणो अमृक्तः ।
अभित्रिपृष्ठैः सवनेषुसोमै मदे सुशिप्रा महभिः पृणध्वम् ॥

ऋ० । ७ । ३ । ३७

इस मन्त्र के द्वितीय पद को छोड़ कर शेष तीनों पद कालिदास के किसी काव्य में उप जाति नाम से आ सकते हैं ।

वैदिक जगती और वंशस्थ वृत्त में बहुत कम भेद है ।

आप वेद में कई ऐसे मन्त्र और मन्त्रों के पद देखेंगे, जिनके पढ़ते हुए प्रतीत होता है मानों हम किसी अर्वाचीन कवि के बनाये हुए शालिनी छन्द को पढ़ रहे हैं ।

इस प्रकार वेदों की सरस्वती सामान्यतया सारे देव वाणी साहित्य की और विशेषतया पद्य साहित्य की माता है ।

२. ब्राह्मण

वेदों की अलौकिक काव्यधर्ममयी सरस्वती के प्रादुर्भाव के न जाने कितनी शताब्दियां पीछे दशा बदल गई । वेदों के ज्ञान कर्म उपासना मय धर्म का स्थान ब्राह्मणों के कर्म प्रधान धर्म ने ले लिया । जीवन पद्य मय से गद्य मय होगया । भाषा ने भी पद्य की जगह गद्य का चोला धारण किया । ब्राह्मणों को काव्य ग्रंथ कहना काव्य शब्द का अपमान करना है । काव्य न होते हुए भी ब्राह्मण ग्रन्थों का भारतीय गद्य साहित्य उत्पन्न करने में एक विशेष स्थान है ।

जातीय जीवन का और साहित्य का बड़ा गहरा सम्बन्ध है । साहित्य वस्तुतः जाति के अन्तरात्मा और बाह्य-जीवन का शब्दमय प्रकाश है । यह कहना अत्युक्ति न होगी कि ब्राह्मणों की गद्य रचना उस समय के गद्य जीवन का ही आविष्कार है । ब्राह्मणों के समय में आर्य जाति उत्तरीय भारत में खूब अच्छी प्रकार व्यवस्थित हो चुकी थी । उसे किन्हीं खास शत्रुओं का भय न था । निश्चल दशा में आर्य लोग षोड़श वार्षिक सत्र करते और गृहस्थ जीवन को सुख पूर्वक बिताते थे । उस समय किसी सम्राट् की विजय यात्रा, या किसी आर्यराजा के समुद्र लंघन जैसी कवितामयी घटनायें हुई प्रतीत नहीं होती । इसी कारण आर्य्य विचा-

रकों को इतना समय मिल सका कि वे यज्ञपात्रों तक के बालों की खाल उतार सकें। यह ब्राह्मण ग्रन्थों की गद्य रचना का मुख्य कारण प्रतीत होता है।

ब्राह्मणग्रंथों से ही गद्य रचना का प्रारम्भ हुआ। आगे चल कर उस गद्य में बहुत से परिवर्तन हुए परन्तु साधारण बनावट के कई चिन्ह जो ब्रह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं, वे ही अर्वाचीन गद्य में भी पाए जाते हैं। दो एक बातें हम उदाहरण के तौर पर देते हैं—

(क) संस्कृत गद्य में यह नियम नहीं कि कर्ता कर्म करणादि में से पहले कौन रखा जाय और पीछे कौन? यह विलक्षणता ब्राह्मणों की भाषा में पायी जाती है।

(ख) संस्कृत गद्य में (पद्य में भी) प्रायः यह नियम है कि क्रिया को प्रायः अन्यथा गतार्थ कर देते हैं। वेद में हमें सब जगह क्रिया मिलेगी। कहीं क्रिया हीन वाक्य शायद ही मिले। ब्राह्मणों में ऐसा नहीं है।

जागता हिपशवः।

यहां (भवन्ति) खा लिया गया है।

बर्हिर्वैपशुः।

यहां 'उच्यते' क्रिया उड़ाली गई।

यही प्रवृत्ति आप संस्कृत के अर्वाचीन गद्य में पायंगे।

अय मेव चानास्वादितविषयरसस्यते कालः उपदेशस्य। कादम्बरी।

यहां 'अस्ति' क्रिया अन्यथा गतार्थ समझी गई है।

(ग) गद्य में उपसर्गों का अधिकतया प्रयोग भी ब्राह्मणों में विद्यमान हैं।

इस प्रकार हम देखने हैं कि रचना की विशेषता में अर्वाचीन संस्कृत गद्य ब्राह्मणों का गुणसम्पन्न पुत्र है। सम्भवतः यही कारण है कि हमारा गद्य अति नवीन समय तक व्यावहारिक गद्यों की प्रवाहिता को नहीं पासका। वह सदा ही निश्चित और संक्षिप्त रहा है। और भाषाओं के

गद्यों में विस्तार की ओर एक विशेष रुचि होती है वह संस्कृत गद्य में नहीं है। कारण यही है कि उसका प्रारम्भ ब्राह्मणों से हुआ, और ब्राह्मणों की भाषा सर्वथा सर्वत्र सूत्रभूत तो नहीं है, परन्तु झुकती संक्षेप की ओर को हां है।

इस का कारण क्या है—इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन है। क्या सचमुच उस समय लेख प्रणाली के न होने से सब कुछ स्मरण करना पड़ता था, इस लिए विस्तृत रचना असम्भव थी ? अथवा लेख शैली के होते हुए भी स्मृति को ही विद्या की उपस्थिति का उचिततर साधन समझ कर उस समय के विचारक संक्षिप्त रचनायें करके शिष्यों को याद कराते थे ? इन दोनों कल्पनाओं में से एक को बहुत अधिक प्रामाणिक कहना भारत के इतिहास की वर्तमान सामग्री रहते कठिन है। अस्तु कुछ ही हो—इसमें सन्देह नहीं, कि ब्राह्मणों की रचना के साथ ही साथ उनके भी सार भूत सूत्र ग्रन्थों की रचना होने लगी।

३. सूत्र

यह सूत्ररचना वस्तुतः ब्राह्मणों से ही प्रारम्भ हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में ही स्थान २ पर सूत्र भूत विधि निषेध या अर्थवाद पाये जाते हैं। और भी थोड़े में रख देने के लिए दूसरे विचारकों ने उन संक्षिप्त वाक्यों का संग्रह करके और उनमें अपनी ओर से कुछ मिला कर सूत्र रचना प्रारम्भ की। यह सूत्ररचनाप्रणाली का प्रारम्भ हुआ।

हमने संस्कृत साहित्य की तीनों प्रकार की रचना की आधार शिलायें देखलीं। अब उन आधार शिलाओं के और अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के मध्य में जो साहित्य पड़ता है, उसका भी साधारण निरीक्षण आवश्यक है, क्योंकि नये को पुराने के मिलाने की स्वर्ण मय ज़ंजीर वहीं है।

वह स्वर्णमय ज़ंजीर उपनिषदें हैं।

उपनिषदें

उपनिषदों में ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक कविता है। न केवल यही कि कई उपनिषदों में छन्दोभाग बहुत हैं. उनका गद्य भी अधिक कल्पना-

त्मक और काव्यत्व की ओर को अधिक झुकता हुआ है। ब्राह्मणों की रचना सरल है, परन्तु रूखी है; उपनिषदों की रचना बहुत सरस है।

भाषा में भी भेद आगया है। यों तो उपनिषदें भी ब्राह्मणों के ही आरण्यक भाग में आजाती हैं—परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका वहां प्रवेश उनके समय की समानता को सूचित नहीं करता। दोनों के आदर्शों भावों, रचना और वर्णन की शैलियों में इतना भेद है कि दोनों से आर्य्य सभ्यता की एक ही दशा की सूचना नहीं मिलती।

ब्राह्मणों के यज्ञवाद के पश्चात् धीरे २ लोग फिर वेदों के ज्ञान काण्ड की ओर झुकने लगे। अतिशय ने प्रतिक्रिया उत्पन्न की। क्षत्रिय लोग शान्त दशा में राज्य करते हुए जब अन्तर्ध्यान होकर सोचने लगे तो उन्हें पता लगा कि केवल यज्ञात्मक धर्म अधूरा है। उनके पास समय और सामर्थ्य था—इस लिए उन्होंने स्वाधीन रूप से विचार करना और ब्रह्मज्ञान की ओर झुकना प्रारम्भ किया। क्षत्रियों द्वारा की गई व्याख्या से प्रेरित होकर, और राज पुत्रों की ब्रह्मज्ञान विषयक शंकाओं से उकसाये जाकर विचारकों ने भी कर्म कांड की ओर से मुंह मोड़ कर ज्ञान मार्ग की ओर लगाया।

हम स्पष्ट रीति से नहीं जानते कि उस समय की राजनीतिक घटनायें क्या थीं, या उस समय प्रजा की साधारण दशा कैसी थी? परन्तु यदि कई लोगों का यह अनुमान ठीक है—कि वाल्मीकि रामायण और उपनिषदों के काल बहुत दूर २ नहीं, एक दूसरे के समीप ही समीप है, तब हम समाज शास्त्र के एक साधारण नियम को लगा कर उपनिषदों की रचना और उस समय की सभ्यता के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित कर सकते हैं।

समाज शास्त्र का यह एक नियम सा है कि किसी भी देश या जाति के साहित्य का उसकी राजनीतिक दशा से विशेष सम्बन्ध है। यह एक नियम सा दीखता है कि साहित्य दर्शन या आचार शास्त्र को विशेष प्रेरणा उसी समय मिलती है, जब कोई जाति राजनीतिक दृष्टि से आगे को पग धर रही हो, प्रजा सत्तात्मक राज्य हो या एक सत्तात्मक, यह झगड़ा नहीं। परन्तु जहां राज्य की कला में उन्नति शीलता आती है, वहीं

साहित्य तथा धर्म का पुर्ज़ा भी हिलता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राजनीतिक उन्नति ही अन्य प्रकार की उन्नतियों का कारण है—परन्तु इसका अभिप्राय यह है कि एक ही जागृति के ये दोनों परिणाम होते हैं। जब जाति के अंदर जागृति उत्पन्न होती है, तब वह सब मार्गों से होकर फूटती है केवल एक मार्ग से नहीं।

ब्राह्मणों का समय शिथिल जीवन का समय था। उस समय विचार भी एक संकुचित परिधि में ही घूमता था और रचना भी कल्पना हीन गद्य मयी थी। वाल्मीकि रामायण की कथा को अभी दूर रखदें, तो भी उस से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि जिस समय वह काव्य बना, वह जातीय जागृति का समय था। विदेशी लंका आदि के निवासिओं के अत्याचारों से समय समय पर पीडित आर्यजाति अपनी दशा से असन्तुष्ट होकर अत्याचारियों का क्षय करने के लिये यत्न कर रही थी। उसी समय सब प्रकार की जागृति होना सम्भव था। दर्शन धर्म और साहित्य में ऐसे ही समय में नई २ ज्योतियां आविष्कृत होती हैं। रोमन साम्राज्य में जिस समय सम्राट् की शक्ति बढ़ रही थी, और रोमन जाति उस के झंडे के नीचे देश देशान्तरों में अपना झंडा गाड़ने का यत्न कर रही थी, उसी समय उस में बड़े २ कवियों तथा लेखकों का जन्म हुआ। फ्रांस में चौदवें लूई का समय साहित्यकी जागृति के लिये प्रसिद्ध है। वही समय उसके बड़े २ युद्धों का भी था। इंग्लैण्ड में राणी एलिजबेथ का राज्य ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार की भूमिका समझी जाती है—अंग्रेज़ी साहित्योद्यान के कई अमोल फूल उसी राज्य में उत्पन्न हुए थे। यही नियम भारत में दीखता है। ज्यों २ हम भारतवर्ष के राजनीतिक तथा साहित्य सम्बन्धी इतिहास को तुलना करते हुए पढ़ते जायं, त्यों २ यह सिद्धान्त दृढ़ होता जाता है।

उपनिषदें साहित्य की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थों और नवीन संस्कृत-साहित्य के मध्य में जोड़ने वाली श्रृंखलायें हैं। उन का गद्य अपेक्षया

अधिक विस्तृत और अधिक अलंकृत हैं। उन के विचार आते हुए नये दार्शनिक युग के भूमिका स्वरूप हैं।

दर्शनग्रन्थ

हमारे मूल दार्शनिक ग्रन्थ सूत्ररचना में ही निबद्ध किए गए थे। हम ऊपर देख आये हैं कि सूत्ररचना का मूल ब्राह्मण ग्रन्थों में है। ब्राह्मणों के मध्यवर्ती छोटे २ विधिनिषेध वाक्यों के आधार पर ही पहले श्रौत आदि सूत्रों की रचना प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। फिर वह शैली धीरे २ दार्शनिक विचारों के प्रकाश का साधन बन गई।

क्या इस सूत्ररचना ने हमारे अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य पर कोई प्रभाव डाला ? नाटकों के तथा गद्यकाव्यों के देखने से भी प्रतीत होता है कि संस्कृतभाषा के गद्य ने कभी विस्तार की ओर रुख नहीं किया। इस विषय में गद्य तथा पद्य की तुलना लाभकारिणी हो सकती है। नाटकान्तर्गत गद्य भाग बहुत ही छोटे २ और संक्षिप्त से होते हैं। यह गद्य में आई हुई सूत्ररीति का ही परिणाम है।

एक विलक्षण बात हम अवश्य देखते हैं। हमारे यहां सूत्रग्रन्थों की रचना का वह समय है जो विद्या की वृद्धि और विस्तृति का आदर्श समय है। उपनिषदों से कुछ पूर्व सूत्रग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। फिर वही सूत्रशैली उपनिषदों से पीछे दर्शनग्रन्थों में आ गई। यह शैली क्यों उत्पन्न हुई ? प्रतीत होता है कि ज्ञान की वृद्धि के साथ इस शैली का विशेष सम्बन्ध है। ज्ञान की वृद्धि, ग्रन्थों का संख्या में अधिक होना—ये सब कारण ही ऐसी संक्षिप्त रचना-प्रणाली में कारण हुए होंगे।

प्राचीन तथा अर्वाचीन में भेद

(२)

भेद

उपनिषदों तक प्राचीन वैदिक-साहित्य का काल समझा जाता है, और रामायण से अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य का प्रारम्भ होता है। भेद की रेखा उपनिषदों के और रामायण के मध्य में डाल देने के लिए हमारे पास क्या कारण है ?

उपनिषदों तक के साहित्य में और उस के पीछे के साहित्य में भेद करने वाली दो प्रकार की विशेषतायें हैं।

पहली रचना सम्बन्धी और

दूसरी विषय सम्बन्धी

दोनों में रचना-सम्बन्धी भेद मुख्यतया यह है कि एक तो

(१) रामायण काल से अनुष्टुप् अपने नए रूप का धारण कर लेते हैं। आगे जा कर हम देखेंगे कि इस प्रकार के अनुष्टुप् का प्रारम्भ वाल्मीकि ने ही नहीं किया ब्राह्मणों में भी वे पाए जाते हैं, तो भी उन का इतना साधारण प्रयोग यहीं मिलता है। साथ और छन्द भी अपने नवीन रूप को पाते जाते हैं। पद्य में अन्य भी कई प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता जाता है।

(२) रचना में दूसरा भेद यह है कि भाषा में क्रियाओं का प्रयोग अधिक निश्चित होता जाता है। भाषा पाणिनि के व्याकरण के समीप पहुंचती जाती है।

विषय में भेद यह है कि—

(३) जहां पहले केवल धार्मिक विषयों पर रचना होती थी, वहां अब लौकिक विषयों पर भी काव्यों की अधिकता होती जाती है। धार्मिक विषयों पर भी स्मृतियों का निर्माण होता है, पर राम और अर्जुन की कथायें साहित्य में प्रधानता पाती जाती है। प्रसंग से इन काव्यों में धार्मिक विषय बहुत हैं, परन्तु वे गौण है।

(४) विषय क्रम में हम एक और भी भेद देखते हैं। पहले ग्रन्थों में स्वाभाविक प्रकृति का, या याज्ञिक विषयों का और या अध्यात्म ज्ञान का वर्णन बहुत है। ब्राह्मणान्तर्गत कई अर्थवादों को छोड़ कर अन्यत्र अलौकिक अत्युक्तियां नहीं मिलतीं। ब्राह्मणा-तर्गत छोटी मोटी कहानियों पर, जो अर्थवाद के तौर पर दी गई थीं, धीरे २ घड़न्तहोने लगी और राई का पहाड़ बना कर कविलोगों ने अर्थवाद का अनर्थ-वाद रच कर उपाख्यान और आख्यायिकायें बना डालीं। उन उपाख्यानों और आख्यायिकाओं का पहला समावेश महा-भारत के उपाख्यान भाग में मिलता है। इन उपाख्यानों की रचना ही बताती है कि वह रामायण से पूर्व हुई। पीछे से वे जुदे २ उपाख्यान महा-भारत के महा-काव्य में मिला दिये गये। धीरे २ अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में उन्हीं अलौकिक गाथाओं के देवताभूत नायकोंने विशेष स्थान पालिया और स्थान२ पर अत्युक्तिपूर्ण घटनाओं और देवगणों का वर्णन आने लगा।

अत्युक्ति की ओर यह विशेष प्रवृत्ति क्यों बढ़ी ? इसका ऐतिहासिक कारण क्या था ? हम अभी तक वर्णन में तो अत्युक्ति का समावेश नहीं पाते, हां कई धार्मिक विचारों में अत्युक्ति घर करने लग-गई—इस का कारण क्या था ?

संक्षेपरूप से इस का कारण कहदेना कठिन है। यह स्थापना बहुत सहल है कि भारतीय दिमाग़ की प्रवृत्ति ही अतिशय की ओर है। यह कथनस्वयं इतनी भारी अत्युक्ति है, और सिद्ध करता है कि अत्युक्ति किसी देश या जाति की ही मौरूसी जायदाद नहीं है। जो लोग भारतीय दिमाग़ को स्वभाव से अत्युक्ति की ओर झुकता हुआ पाते हैं वे एक बात को भूल जाते हैं ? यदि उनसे गौतम के न्याय दर्शन पाणिनि के व्याकरण और कपिल के सांख्य दर्शन के विषय में पूछा जाय तो वे कहेंगे कि हां ये पुस्तकें तो दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पुस्तकों के लिये आदर्शभूत हैं, इन में अत्युक्ति नहीं हैं। ये दृष्टान्त भी विद्या की एक शाखा के नहीं. भिन्न २ तीन शाखाओं के हैं। तब यह प्रतीत नहीं होता कि भारतीय दिमाग़ में स्वभाव से ही अत्युक्ति तथा अति विचार पूर्ण हैं।

अत्युक्ति या अति विचार के स्वाभाविक न होते हुए भी एक विशेष समय में आकर भारतीय विचार अति की ओर को बढ़ने लगे। यहां संस्कृत के इतिहास पर विचार करने वाले कई पाश्चात्य विद्वानों के एक और मत की भी परीक्षा करनी चाहिये। वे लोग सहित्य के उपनिषद्‌ काल को छोड़ कर सीधे कृत्रिम काल पर आजाते हैं। क्या ऐतिहासिक दृष्टि से यह उचित है? इस विषय पर इस परिच्छेद के अन्तमें विचार किया जायगा। वह समय कई सदियां पीछे प्रारम्भ होता है, जिस में भारतवासियों ने अति-देवता की उपासना अनन्यमनस्क हो कर प्रारम्भ की, वह समय भली प्रकार से गुप्तसाम्राज्य के काल से प्रारम्भ होता है। किन्तु उसका बीजवपन रामायण के उपाख्यानों से ही प्रारम्भ हो जाता है।

एक कल्पना है, जो इस अति-वाद की व्याख्या कर सकती है और जबतक उसके विरुद्ध प्रबल प्रमाण न मिलें तब तक यदि उसे मानलें तो कुछ युक्तिविरुद्ध प्रतीत नहीं होता। यह स्पष्ट है कि उपनिषदों की समाप्ति का और रामायण के प्रारम्भ का काल भारत वासियों की दक्षिण दिग्यात्रा का काल है। इस यात्रा से आर्य लोगों का दक्षिण के उन निवासियों से सम्बन्ध हुआ, जो चिरकाल से दक्षिण में वास कर रहे थे। वे लोग सर्वथा असभ्य नहीं थे। उन की प्राकृतिक उन्नति कुछ कम नहीं थी। रावण की पुरी लंका का वैभव इन्द्रपुरी के वैभव से कुछ न्यून नहीं वरना जाता। वे लोग सुविद्वान्‌ भी होते थे, और विजेता भी होते थे। विभीषण को राज्य देने और भारत में आने आदि के समाचारों से ज्ञात होता है कि उन का भारत से गहरा सम्बन्ध हो गया था। इसी समय के आगे हम भारत वर्ष में अद्भुत देवमाला की विचार पूर्वक रचना पाते हैं। पौराणिक देवताओं का कट्टर स्वरूप, उन के परस्पर सम्बन्ध, तेतीस करोड़ देवता, और इसी प्रकार की अन्य अत्युक्तिपूर्ण गाथायें इसी काल में उपजनी आरम्भ होती हैं। ब्राह्मणों के अर्थवादों को दीर्घ उपाख्यान बनाया गया है। उपनिषदों के ब्रह्मयक्ष आदि कल्पित व्यक्तियों को बड़ी २ गाथाओं के केन्द्र बना दिया गया। इन पौराणिक गाथाओं के निर्माण में दक्षिण के पूर्व अर्द्धसभ्य धर्म का अवश्य ही प्रभाव हुआ होगा।

यही हो या कई अन्य भी कारण हों परन्तु यह निश्चित है कि थोड़ा बहुत भेद इस समय से भारतीय विचारों में आने लग गया था।

(५) कई पश्चिमी विद्वानों ने प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य में एक और भेद दिखलाया है। वह भेद यह है कि जहां प्राचीन वैदिक साहित्य में आशावाद की लहर प्रतीत होती है, वहां अर्वाचीन साहित्य में निराशावाद का ही प्राधान्य झलकता है। यह भेद कल्पित सा ही है। यह ठीक है कि प्राचीन वैदिक साहित्य में आशावाद की लहर है। यह भी ठीक है कि विशेष समयों में पीछे से निराशावाद की प्रधानता दीखती है। किन्तु प्राचीन तथा अर्वाचीन में ही यह भेद बतलाना भूल है। प्राचीन साहित्य में, उपनिषद्ग्रन्थों में भी कहीं २ जीवन का बड़ा निराशामय चित्र खींचा है। इसी प्रकार योगदर्शन में बन्धको दुःखमय कहा है। उपनिषदों में भी इस लोक को बहुत ही तुच्छ माना है। दूसरी ओर वाल्मीकि कालिदास तथा भारवि आदि कवियों के वाक्यों में जो आशा की झलक है वह किसी से छुपी नहीं है। मौर्यवंश तथा गुप्त वंश के साम्राज्यों के नाश के पीछे देश में जो उदासी छाई थी, उसका प्रभाव संस्कृत साहित्य पर अवश्य पड़ा परन्तु वह कुछ समय के लिए था सदा के लिये नहीं। जहां किसी भारतीय नरेश ने विजय पताका खड़ी की, वहां कवियों ने आशावाद की तरंगें चलादीं। आशावाद और निराशावाद की गति हमारे इतिहास की लहरों के साथ है। प्राचीन या अर्वाचीन साहित्य में उन के कारण कोई भेद नहीं।

(६) प्राचीन तथा अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में भेद करते हुए योरुपियन विद्वान् प्रायः यह भी उल्लेख किया करते हैं कि नई रचना कृत्रिम हो गई, पुरानी स्वाभाविक थी। यदि प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में एक रेखा ही डाल दी जाय और फिर प्रश्न किया जाय कि इन में से कृत्रिम भाग किस में अधिक है, तो निःसंदेह कहना पड़ेगा कि प्राचीन भाग में कृत्रिमता नहीं है, और अर्वाचीन भाग में है। किन्तु वस्तुतः रामायण से पूर्व, रामायण से पश्चात् या महाभारत से पश्चात् भी एक रेखा डाल देना और फिर उसे कृत्रिमता तथा स्वाभाविकता

की मध्य रेखा कहना अनुचित है । रामायण या महाभारत के साथ एकदम स्वाभाविक काल नष्ट नहीं हो जाता– और न कालिदास के साथ ही अकृत्रिम काल प्रारम्भ हो जाता है । वस्तुतः प्राचीन स्वाभाविक काल के और सर्वथा अर्वाचीन कृत्रिमकाल के मध्य में एक साहित्यक काल भी है, जिस में इतनी स्वाभाविकता भी हैं कि उस समय के काव्य सुन्दर कविता में गिने जा सकें, और इतनी कृत्रिमता भी है कि उन्हें साहित्यकी कला के फल कहा जासके। यह साहित्य का मध्यकाल है। उस में बने हुए रामायण महाभारत और फिर आगे बुद्ध चरित, रघुवंश शाकुन्तल आदि को कृत्रिम रचनायें कहना भारी भूल है। उन में उतना स्वाभाविक प्रवाह विद्यमान है जितना उत्तम काव्यों में होना चाहिये और साहित्यिक संगठन में जितनी कृत्रिमता अभीष्ट है, उसका भी वहां अभाव नहीं है। इस लिये वस्तुतः अर्वाचीन काल की पहली कई शताब्दियां कृत्रिम साहित्य की शताब्दियां नहीं हैं। कृत्रिमता का प्रवेश धीरे २ हुआ, जो हमें आगे ज्ञात होगा।

रामायण और उसका काल

(३)

पहला प्रश्न हमारे साम्हने यह आता है कि अर्वाचीन साहित्य में पहला नाम किस ग्रंथ का है ? सब से पहले किस काव्य की रचना हुई ?

कई लोगों का मत है और उन कई लोगों में योरप के प्रसिद्ध २ संस्कृतज्ञ भी सम्मिलित हैं, कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई। इस निबन्ध का यह विषय नहीं है कि विस्तारपूर्वक उन लोगों के मत की परीक्षा की जाय किंतु इतिहास और साहित्य की शृंखला दिखलाने के लिये संक्षेप से दो एक विचार रखदेने अनुचित न होंगे।

क्या रामायण अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में सब से प्रथम रचना हो सकती है ? यदि तो प्रथम रचना का यह तात्पर्य है, जो लोकप्रसिद्धि द्वारा हमें बतलाया जाता है कि वाल्मीकि से पूर्व नवीन शैली का कोई पद्य बना ही नहीं था— तो निःसंदेह अशुद्ध है। ऐतरेयब्राह्मण में शुनःशेपोपाख्यान की कविता में सर्वथा अर्वाचीन अनुष्टुप् पद्य का प्रयोग किया गया है-

उदाहरणार्थ लीजिये- -

यन्न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न
किं स्वित्पुत्रेण विन्दन्ते तन्म आचक्ष्व नारद ?
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥

उपनिषदों में अनेकत्र नवीन लौकिक छन्द पाये जाते हैं। जैसेः-

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।
तेध्यान योगानुगता अपश्यन्
देवात्म शक्तिं स्वगुणै र्निगूढाम्। श्वेताश्वतर।

किन्तु इन दृष्टान्तों के होते हुए भी एक प्रश्न है। क्या रामायण लौकिक काव्य की प्रथम रचना हो सकती है? बात की सम्भवता बुद्धि में नहीं आती। जहां एक समय में सारी रचनायें केवल धार्मिक उद्देश्य को लेकर होती थीं, वहां दूसरी ओर एक दम लौकिक वृत्तान्त के वर्णन के लिये कविता होती है— और वह भी इतने भारी रूप में। पहली रचना महाकाव्य की ही होती है। यह सम्भव नहीं। लौकिक विषयों पर काव्य की ओर प्रवृत्ति चिर काल तक रही होगी, तभी अन्त में महा काव्य तक नौबत पहुंची। इस लिये यह मानना आवश्यक सा प्रतीत होता है, कि रामायण महाकाव्य के निर्माण से पूर्व छोटी २ लौकिक इतिवृत्तविषयक गाथायें देर तक बनती रही होंगी। सम्भव है, रामायण तथा महाभारत के अन्तर्गत कई उपाख्यान भी उसी समय के बने हों, जिनका समावेश पीछे से इन ग्रन्थों में कर दिया गया है।

महाभारत और रामायण के अन्दर इतनी देर तक विविध स्थानों से प्रक्षेप होते रहे कि यह कह देना असंगत न होगा कि रामायण में जो अन्तिम श्लोक प्रक्षिप्त किया गया, वह महाभारत के प्रथम पद्य की रचना से शायद कई सदियां पृष्ठवर्ती होगा और इसी प्रकार महाभारत का अन्तिम प्रक्षेप रामायण की प्रारंभिक रचना से दस से अधिक सदियां पीछे का होगा। ये ग्रन्थ इतनी देर तक बढ़ते रहे कि इन को एक समय देना कठिन हो जाता है परन्तु हां इन की प्रारम्भिक रचना का और मुख्य भाग के संगठन का समय निश्चय किया जा सकता है। इस समय, वर्तमान रामायण तथा महाभारत के मूलभूत जो पूर्ण ग्रन्थ थे, उन में से रामायण को पूर्व और महाभारत को पीछे रखना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। वह कैसे?

(क) सब से प्रथम प्रमाण प्राचीन प्रसिद्धि है। प्राचीन प्रसिद्धि चाहे स्वयं अकेला किसी विषय में प्रमाण न हो, तथापि अन्य प्रमाणों के साथ मिल कर उसका बल खूब बढ़ जाता है।

(ख) महाभारत के मुख्य कथात्मक ग्रन्थ में भी रामायण की कथा के इतने निर्देश आते हैं कि उन से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि महाभारत

के निर्माण काल में रामायण की कथा सुप्रसिद्ध थी। रामायण में महाभारत की कथा का ज़रा सा भी निर्देश नहीं आता, जिस से प्रत्यक्ष है कि उस समय महाभारत की कथा प्रसिद्ध न थी।

(ग) महाभारत के तीसरे पर्व में सारा रामोपाख्यान है- जिस के पढ़ते ही प्रतीत हो जाता है कि उस की रचना रामायण के क़दमों पर चल कर हुई है।

(घ) महाभारत में साक्षात् रामायण से श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं।

इस के सिवाय अन्य भी अनेक युक्तियां हो सकती हैं, किन्तु ये सब संस्कृत इतिहासज्ञों द्वारा अभिमत युक्तियां हैं। इन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रामायण का आधारभाग महाभारत के आधारभाग से पीछे का नहीं है। एक और युक्ति जो हमारे अगले विचार में उपयोगी होगी बहुत ही विचार योग्य है।

(ङ) उपनिषदों के पीछे पहला लौकिक महाकाव्य रामायण बना। बीच में जो समय बीता वह बहुत अधिक नहीं था। रामायण और उपनिषदों के समय में अधिक भेद नहीं प्रतीत होता। इस में कई साधक कारण हैं-

(१) उपनिषदों के तथा रामायण के पाठ से प्रतीत होता है कि उनके समय में ब्राह्मणों तथा ऋषियों का वह निश्चित आधिपत्य जो ब्राह्मण काल में था, लुप्त हो रहा था। उपनिषदों से यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। आगे चल कर हम इस विषय की और भी अधिक व्याख्या करेंगे। यहां दोनों की इस समानता की ओर केवल निर्देश कर देना पर्याप्त है।

(२) रामायण के तथा उपनिषदों के भी पाठ से प्रतीत होता है कि उस समय राजर्षि जनक और उस के पुरोहित याज्ञवल्क्य की कथायें नवीन थीं, पुरानी नहीं हुई थीं।

(३) दोनों के ही देखने से एक विशेष हलचल का समय प्रतीत होता है—उपनिषदों में आत्मिक हलचल का, और रामायण में राजनीतिक हलचल का। सब प्रकार की हलचल प्रायः साथ ही आया करती है। यह हलचल का भाव दोनों ही स्थानों पर कार्य्य कर रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जो विकास उपनिषदों से प्रारम्भ हुआ था—वह रामायण में पूर्णता को प्राप्त हुआ। उपनिषदों की तथा रामायण की सभ्यताएं एक ही युग के दो अङ्ग हैं—उपनिषदें उस युग की भूमिका और रामायण उस का मध्य भाग है। उपसंहार का हमें ज्ञान नहीं परन्तु हां वह उपसंहार महाभारत के निर्माण काल से पूर्व ही समाप्त हो चुका था।

अब हम इसी आधार पर देखते हैं कि भारतवर्ष का इतिहास और साहित्य एक दूसरे पर क्या क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं।

इतिहास का प्रवाह हम देख चुके। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में यज्ञों और कर्मकाण्ड की प्रधानता के कारण यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् होता आदि ब्राह्मणों का अन्य सब वर्णों पर अबाधित राज्य था। उपनिषदों के समय अवस्था पलटती प्रतीत होती है। वहां यज्ञ प्राधान्य नहीं रहा। उपनिषदों का निर्माण ही इस में प्रमाण है। उपनिषदों की विचार शृङ्खला ही बतलाती है कि वह प्रबल कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिवाद है। फिर उपनिषदों में तो स्वयं ही कर्म की निष्फलता अनेक स्थानों पर दिखलाई है। उदाहरण के तौर पर लीजिये—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युन्ते पुनरेवापि यन्ति।

यज्ञ की मुख्यता के साथ यज्ञ कराने वालों की भी प्रधानता लुप्त सी होती जाती है। क्षत्रियों में ब्रह्मविद्या के लिए विशेष प्रेम पैदा हो जाने से ब्राह्मणों को उन का प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है। इसके प्रमाण भी उपनिषद् में विद्यमान हैं। दृष्टान्त के लिए लीजिए—

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवान् हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत्। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यम् इति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। प्रश्नोपनिषद् ॥ ६ ॥ प्रश्न।

यहां क्षत्रियों की, पहले से अभिमत विद्या के आदर्श के विरुद्ध स्पष्ट ही विवेक बुद्धि प्रतीत होती है।

अब हम नवीन तथा प्राचीन संस्कृत की तुलना करते हैं तो हमें इस उपर्युक्त ऐतिहासिक परिवर्तन का उस पर बड़ा गहरा प्रभाव प्रतीत होता है। प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य के विषय विधान में बड़ा भेद यही है कि प्राचीन साहित्य शुद्ध धार्मिक है और नवीन लौकिक विषय की ओर झुकता है। उस में विजयी राजाओं के विजयों का वर्णन मिलता है। सामाजिक दशा में क्षत्रियों को जो मुख्यता मिल रही थी - उसका साहित्य पर प्रभाव पड़ा। यह मानने में भी कई प्रमाण हैं कि वाल्मीकि स्वयं क्षत्रिय कुल में जनमा था। यदि यह सत्य न भी हो तो रामायण स्वयं क्षत्रिय कुल का कीर्तिस्तम्भ है। क्षत्रियों के विक्रम वर्णन में सरस्वती देवी का विस्तार हो इसके लिये ज़रूरी है कि उन की सामाजिक स्थिति ऊंची हो। वह स्थिति उपनिषदों से भासित होती है — और रामायण में भी प्रतीत हो रही है। यह ठीक है कि रामायण के समय के क्षत्रिय भी सच्चे ब्राह्मणों के आगे सिर झुकाते थे, किन्तु उनका अबाधित राज्य न था। देखिये, रामायण में, राम जाबालिमुनि को किस प्रकार से लताड़ते हैं।

निकामृतं कर्मकृतं पितुस्म यस्त्वामगृह्णाद्विषमस्थबुद्धिम्
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत् कांक्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः

राम कहते हैं कि तेरे जैसे आदमी को मेरे पिताने अपने पास रखा—यही उसका दोष था। ऐसे वचन कहने के लिये थोड़ी सी स्वच्छन्दता चहिये-जो रामायण में क्षत्रियों को प्राप्त है। हमारी सम्मति है कि यदि रामायण के समय या उपनिषदों के पश्चात् काल में भी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के वेही सम्बन्ध होते जो ब्राह्मणों के समय में थे, तो एक क्षत्रिय के चरित के वर्णन का काव्य न बनता। क्षत्रियों की सामाजिक और रामायण की दशा में परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

साहित्य धर्म की सीमाओं से निकल कर—पारलौकिक नियमों को छोड़ कर--लौकिक विषयों की ओर झुका, धर्मनिमित्तिक ग्रन्थों का स्मरण करना ही जातिमात्र के लिये आवश्यक होता है लौकिक काव्यों का स्मरण रखना सब के लिये आवश्यक नहीं। सब स्मरण रख सकें--इस लिये ब्राह्मणों की रचना बड़ी घनीभूत हुई—उन्हें और भी घनी करके सूत्र ग्रन्थ बने। किन्तु नये लौकिक साहित्य में लाघव के लिये विशेष हेतु नथा लाघव की बड़ी आवश्यकता धर्म ग्रन्थों में होती है--अन्य सब में नही। इस लिये नई रचनापद्धति विस्तृत होगई। भाषा में शब्दों का स्वच्छन्द विस्तार होने लगा।

लौकिक विषयों पर काव्य होने लगा तो लौकिक दृश्यों का वर्णन स्वाभाविक होगया। भाषा लौकिक अलंकारों से, उपमाओं से, दृश्यों से मनोहर होने लगी।

इस प्रकार कविता का विस्तार होने लगा। निःसन्देह ऐतिहासिक अवस्थाओं का साहित्य पर प्रभाव पड़ा। उन ऐतिहासिक दशाओं में से एक क्षत्रियों की अवस्थिति थी, दूसरी आर्य्यजाति का दक्षिण दिशा में जाकर राक्षस लोगों पर विजय प्राप्त करना था। संसार के जीवनपूर्ण महाकाव्यों की रचना प्रायः उन समयों में हुई है, जब जाति का कोई नेता विजय की मङ्गलयात्रा कर रहा हो—या जाति ही विजय की सीढ़ियों पर चढ़ी जा रही हो। सरस्वती देवी प्रायः विजय की देवी का अनुसरण करती है। रामायण की रचना का समय वह था—जब दक्षिण दिशा में जा कर आर्य्यध्वजा फहराने वाले राम की सच्ची कहानियां आबालवृद्ध की जिह्वा पर हो रही थीं।

इन ऐतिहासिक घटनाओं का परिणाम रामायण की रचना थी। रामायण की रचना ने अर्वाचीन संस्कृत के युग को अच्छी प्रकार प्रारम्भ कर दिया। रामायण अपने समय की सामाजिक दशा का चित्र खेंचती है। रामायण के समय की सामाजिक दशा बड़ी बलवती थी। क्षत्रियों के पुत्र बाल्यावस्था से ही अकेले युद्ध करने चले जाते थे- रामायण में किये हुए सुबाहु बध से यह स्पष्ट है। कन्याओं का विवाह यों ही नहीं हो जाता था—किसी कठिन शर्त के पूरा करने वाले वीर से होता था—सीता का विवाह स्वयंवर द्वारा हुआ था। स्त्रियां केवल घर में ही बैठने वाली दासियां न थीं वे युद्धों में भी जाती थीं। कैकयी का देवासुरयुद्ध में जा कर वर प्राप्त करना किसे ज्ञात नहीं है; स्त्रियों को सन्ध्या का पूरा अधिकार था—अशोकवाटिका में सीता को न पाकर, नदी के किनारे वृक्ष पर बैठा हुआ हनुमान् कहता है -

संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी।,

स्त्रियों को हवन का भी अधिकार था। जब बन को जाने से पूर्व राम माता को अपने बन जाने का समाचार सुनाने जाते हैं उस समय कौशल्या के विषय में कवि कहता है—

सा क्षौमवसनाहृष्टा नित्यं व्रतपरायणा
अग्निं जुहोतिस्म तदा मन्त्रवत्कृतमंगला

जातियों में बहुत ऊंचनीच का विचार नहीं था, एक निषादपति राम को देख कर अपने साथियों को कह सकता था -

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम

इन सब बातों से प्रतीत होता है कि उस समय की सामाजिक दशा बलवती थी। क्या कोई साहित्यज्ञ इस बात से इन्कार कर सकता है कि अन्य सैकड़ों काव्यों के होने पर भी बाल्मीकि रामायण जैसी सजीव कविता संस्कृत में उत्पन्न नहीं हुई। रामायण के पद २ से जीवन और स्वच्छन्दता झलक रही है। उस का एक २ पात्र अनूठा और सजीव है।

महाभारत

(४)

रामायण की रचना हो गई। धीरे २ लौकिक विषयों में कवियों की वाणी का प्रयोग होने लगा। कितने ही उपाख्यान बीच के समय में बने होंगे। उन का पृथक् रूप से हमें कहीं पता नहीं लगता। रामायण के पीछे पहला आकर हमारे सामने महाभारत के रूप में आता है। जिस में सम्भवतः बहुत से रामायण से पीछे बने हुए और शायद कई पहले बने हुए भी उपाख्यान सन्निविष्ट किए गए होंगे। महाभारत की श्लोकसंख्या इस समय लाख तक पहुंच चुकी है। मूलतः यह ग्रन्थ २४००० श्लोकों का था। महाभारत का ही

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्

यह श्लोक इस में प्रमाण है। शेष हज़ारों श्लोक किस २ समय में मिलाए गए, और असली प्रारम्भिक महाभारत कौन सा था, यह पता लगाना कठिन ही नहीं, असम्भव है। न जाने किस समय कौन सा भाग इस भारत महासागर में मिलाया गया। इसी लिए ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत का महत्त्व बहुत कम रह जाता है। न जाने कौन सा भाग किस समय की सभ्यता का चित्र खेंचता है? इतिहास की शृङ्खला में जब कोई भाग ठीक नहीं रक्खा जाता तो उस का ऐतिहासिक महत्त्व कुछ भी नहीं रहता। इतिहास का मुख्य आधार समय का निश्चय है। महाभारत का मूलांश वर्तमानमहाभारत में इतना रलमिल गया है और ऊपर से मिलाए हुए अंश इतने भिन्न भिन्न समय के हैं कि उन में ऐतिहासिक अंश ढूंढना कम से कम इस समय तो आकाश कुसुम के समान हो रहा है।

इस लिए इतिहास लिखने वालों को दो बातें सदा दृष्टि में रखनी चाहिएं। यह समझना भूल है कि वर्तमान महाभारत का मूलांश पाण्डवों के समय में ही बन गया होगा। मूलांश भी काफ़ी पीछे का है। फिर महाभारत के अन्दर से कोई और समय निश्चायक प्रमाण ढूंढना भी जब कठिन है तो उस में से एक विशेष समय की सभ्यता खोजना भी भूल है। महाभारत के अनेक भागों में से श्लोकों के भाग दे देकर उस

समय की दशा का चित्र खेंचना व्यर्थ है। न जाने कौनसा भाग मूल का है और कौनसा प्रक्षेप का। इन दो बातों को दृष्टि में रख कर ही महाभारत पर विचार करना चाहिये।

महाभारत से हमें अधिक से अधिक क्या ज्ञात हो सकता है ? हमारी सम्मति में उस से केवल इतना ही ज्ञात हो सकता है कि जिस समय महाभारत की अन्तिम आवृत्ति हुई, उस समय तक भारतीय सभ्यता का चित्र कहां तक पहुंच चुका था। इस से अधिक कुछ जानना कठिन है।

अन्तिम समय कौन सा था ?

महाभारत के समय की, या युधिष्ठिर आदि के राजकाल की तिथि निश्चित करना बड़ी विषम समस्या है। इस कण्टकावृत मार्ग में हम प्रवेश करना नहीं चाहते। किंतु जितनी निःसन्देह और सर्वसम्मत बात है हम उतनी ही ले लेते हैं। इस समय महाभारत का जो अन्तिम पाठ मिलता है उस में निम्नलिखित चिन्ह विद्यमान हैं जो इस के समय की सूचना देते हैं।

[१] जिस समय वर्तमान महाभारत अपने इस रूप में आया, उस समय ब्रह्मा विष्णु महेश ये तीन मुख्य देव निश्चित हो चुके थे। उन में से भी शिव और विष्णु इन दो के उपासक जुदा २ हो चुके थे। वस्तुतः यह समय पुराणों के प्रारम्भिक समय से बहुत दूर पहुंचा हुआ प्रतीत नहीं होता।

[२] महाभारत में कौरवों के सहायक यवनों का बहुत स्थानों पर वर्णन आता है। यवन नाम ग्रीक लोगों का था- और वे ग्रीक लोग भारत में पहले पहल ईसा से लगभग तीन सदियां पहले आये थे।

[३] महाभारत में शक (सीथियन) और पल्हव (पार्थियन) जातियों का भी वर्णन है। ये जातियां भारत में इस से पीछे आईं।

इन तीन प्रमाणों में से प्रारम्भ का एक तो बहुत बलवान् है किंतु पिछले दो निर्बल हैं। यह सिद्ध हो चुका है कि भारत के व्यापारी बहुत पहले से देशदेशान्तरों के साथ व्यापार करते थे। महाभारत के समय स

भी पूर्व उन का सामुद्रिक व्यापार होता था। इस लिये यवनादि के विजेतारूप में भारत में आने से पूर्व भी उन के युद्ध में सम्मिलित होने का वर्णन आना असम्भव नहीं है।

इस लिए पहले प्रबल प्रमाण द्वारा यह प्रतीत होता है कि महाभारत का अन्तिम संस्करण पुराणों के प्रारम्भ काल से बहुत दूर नहीं है। कृष्ण के लिए जो विशेष भक्ति का अभ्युदय महाभारत में हुआ था, वही पुराणों में वृद्धि और पूर्णता को प्राप्त हो गया।

इतिहास महाभारत के विषय में इस से अधिक कुछ नहीं कह सकता कि महाभारत रामायण को सभ्यता तथा साहित्य की दृष्टि से उस समय से ला मिलाना है, जिस समय भारत के इतिहास पर से अज्ञेयता का पर्दा उठता है। अबतक देशी या विदेशी जितने भी इतिहासज्ञों ने इतिहास के विषय में खोज की है-उन्होंने राजा नन्द से कुछ पूर्व ही तिथिसहित इतिहास का प्रारम्भ माना है। महाभारत का अन्तिम संस्करण सम्भवतः इसी समय के लगभग हुआ होगा।

उस समय की सभ्यता और महाभारत के अन्तिम संस्करण के समय को वर्णित सभ्यता में अधिक भेद प्रतीत नहीं होता। यहां विस्तार पूर्वक लिखने की आवश्यकता नहीं है। मि० वैद्य ने अपनी [Epic India] नामक पुस्तक में इस विषय का प्रतिपादन किया है। उस में विशेष विप्रतिपत्ति की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। साथ ही महाभारत विषयक पुस्तक में उन्होंने महाभारत के तीन संस्करणों के विषय में जो लिखा है-वह भी लगभग निर्विवाद है। यह देख लेने पर तीन ऐतिहासिक बातें हमारे सन्मुख उपस्थित होती हैं।

(१) मेगस्थिनीज़ ने चन्द्रगुप्त के समय का जो वृत्तान्त लिखा है उस में वह बतलाता है कि उस समय बहुत से लोग हरि या कृष्ण को पूज्यदेव समझते थे। इस से स्पष्ट है कि कृष्ण या विष्णु की पूजा का उस समय प्रारम्भ होगया था।

(२) साथ ही एक और बात भी है। उसी के लेख से यह भी प्रतीत होता है, और स्वयं महाभारत इस में साक्षी देता है कि विष्णु या हरि के साथ २ उस समय शिव और ब्रह्मा को भी पूज्य देवता माना जाता था। उन के उपासकों का भी अभाव नहीं था।

(३) महाभारत के अन्तिम संस्करण के समय को महाराज नन्द-के समय से आगे ले आने से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय यद्यपि बौद्धधर्म उत्पन्न हो कर प्राचीन ब्राह्मणधर्म को धमकी देचुका था—तथापि अभी इस योग्य नहीं हुआ था कि उस का अवश्य ही नाम लिया जाय। अभी अशोक का रंगस्थली में उतरना शेष था।

इन तीनों बातों के मान लेने पर एक विशेष साम्प्रदायिक हलचल का प्रारम्भ होना हुआ स्पष्ट दिखने लगता है। पहले ब्राह्मणों के अपने शिव विष्णु आदि देवताओं की पूज्यता में विवाद था-और फिर एक सर्वथा नये उम्मेदवार की धमकी थी—स्वभावतः जनता के धर्म के ठेकेदारों को अपने धार्मिक विचारों की दशा की चिन्ता थी। महाभारत के पढ़ने से भी यह प्रतीत होता है। कौरव नाश की कथा के साथ महा-भारत में एक विशेष धर्म की लहर चलती है—स्वयं महाभारत अपने आप को धर्म अर्थ काम और मोक्ष की चाबी कहता है।

महाभारत से पुराण नामक ग्रन्थों की बुनियाद पड़ती है। उन में भी कथाओं के आश्रय लेकर अपने २ पूज्य देवता की महिमा बखानी गई है। इस धार्मिक रगड़ के साथ एक नया साहित्ययुग प्रारम्भ होता है। बहुत समय तक ऐसे ग्रन्थों की रचना होती रहती है, जो लौकिक कथा के आश्रय पर धार्मिक प्रासाद को स्थापित करनेवाले थे। यदि यह उद्देश्य पूर्ण न करना होता तो महाभारत का तीसरा संस्करण न करना पड़ता। महाभारत के उस संस्करण में जो भी भाग मिलाये गए, वे वस्तुतः ईसा से लग भग चार शताब्दियां पूर्व की धार्मिक और सामा-जिक दशा के चित्र है। यदि यह उद्देश्य साम्हने न होता तो आज हम महाभारत का ऐसा भयावह लम्बा चौड़ा आकार न देखते।

यों साहित्य की दृष्टि से महाभारत रामायण की अपेक्षा दूसरे युग में नहीं है। दोनों एक ही प्रकार की रचना के प्रतिनिधि हैं। दोनों में स्वाभाविक कविता की प्रधानता को अद्भुत कवित्व के साथ मिलाया गया है। रामायण तथा महाभारत की रचनाओं में इतना ही भेद है, जितना दो भिन्न २ व्यक्तियों की रचनाओं में भेद होता है। रचना प्रणाली या भाषा की दशा में कोई लम्बा चौड़ा भेद नहीं है। भेद है दोनों की धार्मिक तथा सामाजिक दशाओं में। उस सारे दशाओं के भेद या तुलनात्मक अनुशीलन से हमें यहां काम नहीं-हमें यहां काम है केवल उतने भाग से जितने का साहित्य की गति पर असर पड़ा। जो धार्मिक रगड़ इस समय आरम्भ हुई, उसका महाभारत पर भारी असर पड़ा उस के अन्तिम संस्करण को धार्मिक संस्करण कहे तो अयुक्त न होगा। इस समय से इसी प्रकार के महाकाव्यों का प्रारम्भ होता है जिन में सब पुराणों की गणना है।

प्रतिस्पर्धा और जीवन चेष्टा

(५)

हम ऊपर देख आये हैं कि इस समय के लग भग भारतवर्ष में एक विशेष प्रतिद्वन्द्व प्रारम्भ होता है। ईसा से लग भग पांच सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष के एक कोने में गौतम बुद्ध उत्पन्न हुआ। गौतम बुद्ध ने जो बुद्धधर्म का प्रचार किया, उस का वर्णन धर्म के इतिहास का विषय है। हमारा सम्बन्ध बुद्धदेव से केवल वहीं तक है कि जहां तक उस के धर्म प्रचार का प्रभाव संस्कृत भाषा पर हुआ। वह प्रभाव संक्षेप से इस प्रकार हुआ।

गौतम बुद्ध एक नये धर्म का प्रचारक था। उस ने जनता के सन्मुख अपने विचारों को देश भाषा द्वारा प्रकाशित किया। बुद्धदेव के समय संस्कृत प्रचलित भाषा नहीं थी। यद्यपि पातंजल महाभाष्य से प्रतीत होता है कि ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दि में संस्कृत का प्रयोग साधारण आदमियों में भी होता था तथापि यह एक स्पष्ट सी बात है कि बुद्धदेव ने अपने धर्म का प्रचार संस्कृत में नहीं प्रत्युत देशभाषा में किया, जिसे अब हम प्राकृत भाषा कहते हैं। बौद्ध धर्म के शीघ्र प्रचार का यह भी एक हेतु था। देश भाषा के प्रयोग से बुद्ध के विचार सर्वसाधारण में शीघ्र ही फैलने लगे। बौद्ध धर्म हाट से लेकर राज पाट तक अपने पंख फैलाने लगा।

बौद्ध धर्म का प्रचार जिस धर्म के विरुद्ध अपवाद या प्रतिषेध रूपसे हुआ, उसे हम किसी और नाम के अभाव में ब्राह्मण धर्म कह सकते है। उस के प्रामाणिक ग्रन्थ प्रायः संस्कृत भाषा में थे। सर्वसाधारण के लिये उन का समझना इतना सुगम नहीं था जितना कि बौद्ध धर्म था।

एक और भी बात थी। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में सिद्धान्त समझाने के लिए अर्थवाद तथा गाथा रीति का अवलम्बन किया गया है। बौद्ध ग्रन्थ-कारों ने लोगों को मनोरंजक रीति पर धर्म का रहस्य समझाने के लिए अपने जातक ग्रन्थों में छोटी बड़ी गाथाओं का उल्लेख

प्रारम्भ किया। अपनी देश भाषा में प्रचार होने से जो सुगमता होती थी वह कथाओं के प्रयोग के कारण और भी बढ़ गई। बौद्ध ग्रन्थकारों ने रामायण महाभारत और उन के ऐतिह्यांश से भी बहुत सहायता ली प्रतीत होती है। बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। बढ़ते २ वह मगध के राजमहल में भी प्रविष्ट होगया और महाराज अशोक के विशुद्ध हृदय पर उस ने अपनी छाप जमाई।

अशोक ने बौद्ध धर्म का खूब प्रचार किया। देशदेशान्तर में उस का डंका बजा दिया। धर्म का तो विस्तार हो गया परन्तु राज्य का कार्य शिथिल होने लगा। शस्त्रधारी ब्राह्मण तपोवन को दूषित कर देता है और मुनिवृत्ति क्षत्रिय राज्य को शिथिल कर देता है। जिस का काम उसी को साजे। राजा अशोक ने राज काज में श्रमणता लाकर सम्राट् चन्द्रगुप्त का स्थापित किया हुआ प्रबल साम्राज्य चौपट कर दिया। वस्तुतः अशोक ही मौर्य वंश का क्षय हुआ। क्योंकि वह अपने पुत्रों तक उस सजीव क्षत्रियधर्म को नहीं छोड़ गया जो उसने अपने पितामह से पाया था, अशोक के पीछे एक निर्बल से राजा दशरथ का नाम सुनते हैं शेष राजा न जाने अज्ञानता की किस खोह में जा घुसते हैं। और साम्राज्यों के पतन में और कारण हुए हैं, किसी में घरकी लड़ाई और किसी में विदेशी प्रबल शत्रुओं के आक्रमण परन्तु मौर्यवंश बिना इन कारणों के स्वयं क्षीण होगया। क्षीण भी ऐसा हुआ मानों पूर्ण चन्द्रमा को राहु ने एक दम ग्रस लिया हो। कहां अशोक का अपूर्व वैभव और कहां उस के उत्तराधिकारियों की अकिंचनता। हमारी सम्मति में अशोक के भिक्षुपन ने जहां प्रारम्भ में बौद्ध धर्म के प्रचार में खूब सहायता दी वहां मौर्यवंश में से क्षात्रधर्म उड़ा दिया। परिणाम यह हुआ कि अगले राज्य उन शक्तियों से क्षीण हो गये—जिन के आधार पर साम्राज्य खड़े रह सकते हैं। अशोक को चाहिये था कि या तो राजपाट छोड़ कर भिक्षु ही बन जाता या भिक्षुत्व छोड़ कर राज्य ही कर लेता।

अशोक के राज गद्दी पर बैठ कर भिक्षुत्व करने ने उस के असली उद्देश्य को भी परिणाम में धक्का पहुंचाया। उस के पीछे बौद्ध धर्म का

आधार भूत मौर्य सिंहासन डावांडोल हो गया। साथ ही भारतवर्ष में से बौद्ध धर्म की मुख्यता नष्ट होने लगी। उस के ह्रास के साथ ही साथ और शक्तियां उत्पन्न हो गईं और ईसा से लग भग १८५ वर्ष पूर्व बृहद्रथ मौर्य को मार कर ब्राह्मण धर्म का अनुयायी पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा।

कई लोग बौद्ध धर्म के ह्रास का और मौर्यवंश के नाश का यह कारण बतलाते हैं कि ब्राह्मण धर्म ने फिर से सिर उठाना प्रारम्भ किया दोनों घटनाओं में परस्पर सम्बन्ध तो है परन्तु इससे उलटा है। वस्तुतः मौर्यवंश के ह्रास ने ही ब्राह्मण धर्म के पुनरुज्जीवन को उत्साहित किया। बृहद्रथ के वध के साथ बहुत समय के लिये भारत में बौद्ध धर्म का सितारा मन्द पड़ गया।

पुष्यमित्र ब्राह्मणधर्म का कट्टर अनुयायी था। उस ने मीनान्दर के आक्रमण को रोक कर और विदर्भ के राजा को परास्त करके अश्वमेध यज्ञ रचाया—ब्राह्मण धर्म ने फिर झंडा उठाया—और साथही साथ ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की भाषा संस्कृत भाषा में भी पुनर्जीवन प्रवेश करने लगा।

बौद्ध धर्म और पाली भाषा का दीप कुछ २ मन्द तो होने लगा परन्तु वह संस्कृत भाषा के ऊपर अपने भारी असर छोड़ गया। ब्राह्मण धर्म के मानने वालों को यह तो ज्ञान था कि उन्हें संस्कृत काही आश्रय लेना पड़गा—परन्तु साथ ही यह भी सूझा प्रतीत होता है कि अब उस प्रकार काम न चलेगा—जैसे पहले चलता था। मुख्यतया निम्नलिखित बातें उन्हें प्रतीत होने लगी होंगी।

(१) भाषा की कठिनाई होते हुए भी धर्म ग्रन्थों को रोचक रूप देना होगा। जातक ग्रन्थों की जन प्रियता ने उनके हृदयों पर धार्मिक गाथाओं की आवश्यकता अंकित करदी होगी। इस लिये आगे से जहां स्मृतियों की रचना हुई, वहां साथ ही पुराणों की रचना आरम्भ हुई जिस में प्ररोचना का दर्जा बहुत ऊंचा रखा गया। महाभारत और रामायण को भी फिर से कथाओं उपाख्यानों द्वारा और उस समय के धार्मिक मतों के अधिक पास लाने द्वारा अधिक उपयोगी बनाने के लिये संस्कृत या असंस्कृत किया गया प्रतीत होता है। पुराण न होते यदि बौद्ध जातक न होते।

(२) ब्राह्मणों में प्रजापति और उपनिषदों में ब्रह्म को पूज्यदेव माना था। ऐसे सूक्ष्म विचारों के साम्हने बौद्धों ने अपने जीवन्त शरीरधारी बुद्ध की जीविताकृति रखदी। लोगों की बुद्धियां स्वभाव से धर्म के सूक्ष्म हवाई आदर्शों को छोड़ कर बुद्ध की ज्वलन्त धर्म मूर्ति की ओर झुक पड़ीं। ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धारकों ने भी इसी समय से शरीरी देवताओं के विचार को परिपक्व करके स्वर्गलोक और ब्रह्मा, विष्णु, शिव, की मूर्तियों के साथ २ अवतार वाद की कल्पना की ताकि वे जनता के साम्हने भी कोई स्थूल आदर्श रख सकें। पौराणिक देवमाला का प्रारम्भ इसी समय से हुआ।

(३) इस समय दो प्रकार की रगड़ प्रारम्भ हुई। एक तो बौद्ध-मत के साथ ब्राह्मण-मत की रगड़। जिस के कारण दोनों मतानुयायी अपने २ पूज्यदेव बुद्ध और कृष्ण को एक दूसरे से बढ़ाने लगे। दूसरी रगड़ कृष्ण और शिव के अनुयायियों के मध्य में थी कि दोनों देवों में से कौन मुख्य हो। इस प्रतिस्पर्द्धा में हर एक पूज्य देव के अनुयायी अपने देवता की कीर्ति को अधिकाधिक बढ़ाने के लिये कल्पना शक्ति का खूब उपयोग करने लगे।

आगे को साहित्य पर इन्हीं कारणों से निम्नलिखित प्रभाव पड़े।

(१) पौराणिक ग्रन्थ अधिकतया बनने लगे।

(२) शरीरधारी देवताओं की देवमाला तय्यार होने लगी।

(३) परस्पर प्रतिस्पर्द्धा के कारण अत्युक्ति की ओर ऐसी प्रवृत्ति होने लगी कि अगला संस्कृत साहित्य हर प्रकार की अत्युक्ति का केन्द्र होगया।

(४) भाषा पर एक और भारी प्रभाव पड़ा—जो सब से बढ़ कर था। ईसा से पूर्व चौथी शताब्दि के मध्य में संसार भर के पूर्व या वर्तमान व्याकरणों के सिरताज पाणिनिमुनि ने जन्म लेकर सारी संस्कृत भाषा के समुद्र को कूज़े में बन्द कर दिया। अब से संस्कृत भाषा एक ही नियमधारा के अनुसार चलने लगी।

अब पौराणिक युग का प्रारम्भ होता है।

शिथिलकाल

(६)

अशोक की मृत्यु के साथ भारत के इतिहास में लग भग पांच सदियों का शिथिल काल प्रारम्भ होता है । इस समय की और कोई खास विशेषता न होने के कारण हम उसे विदेशी-आक्रमण-काल कहते हैं—क्योंकि इन शताब्दियों में बहुत से विदेशियों ने भारतपर आक्रमण किया परन्तु उन्हें प्रायः नियम पूर्वक परास्त होना पड़ा।

ईसा से २७२ वर्ष पूर्व अशोक की मृत्यु हुई । उसके वंशज बृहद्रथ मौर्य को मार कर मन्त्री पुष्यमित्र ने ईसा से १८५ वर्ष पूर्व शुंगवंश की नींव डाली । उसके समय में काबुल के राजा प्रसिद्ध मिलिन्द (मीनान्दर) ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया । सिन्ध के आसपास की भूमि को जीत कर, मथुरा को सर कर के और राजपूताने में अपनी छाप बिठा कर उसने पाटलिपुत्र की ओर मुंहमोड़ा । उस समय पुष्यमित्र ने अपनी सेना के बलसे उस विदेशी सागर की तरंग को रोक दिया। मिलिन्द परास्त हो कर जिन पैरों आया था उन्हीं पैरों भाग गया।

राजा पुष्यमित्र के समय हमें बौद्धधर्म के ह्रासके और साथ ही साथ ब्राह्मण धर्म की जागृति के प्रबल प्रमाण मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थ हमें बतलाते हैं कि पुष्यमित्र बौद्धधर्म का कट्टर शत्रु था। उसने मगध में बौद्धों के अनेक धर्म मन्दिरों को गिरा दिया बहुत से बौद्ध भिक्षुओं को प्राणदण्ड दिया यहां तक कि बहुतसे बौद्धलोग उसके भय से देशान्तर में भाग गये। सम्भव है बौद्ध लेखकों ने इस में कुछ अत्युक्ति की हो—परन्तु इस में ज़रा भी सन्देह नहीं कि पुष्यमित्र अपने ब्राह्मणधर्म में बहुत ही दृढ़ था। उसने ही बौद्ध धर्म से दबे हुए ब्राह्मणधर्म का पहला विजयनाद बजाया । उसने अश्वमेध यज्ञ किया। इस यज्ञ का किया जाना ही सूचित करता है कि ब्राह्मणधर्म ने पर्याप्तरीति से अपना सिर उठालिया था।

इसी राज्य में एक और विशेष व्यक्ति भी अपना नाम अमर कर गया। महाभाष्य के कर्ता पतंजलिमुनि ने राजा पुष्यमित्र के राज्य में ही महाभाष्य लिखा प्रतीत होता है। अब प्रायः सभी इतिहासज्ञ इस वि-

षय में एक मत होते जाते हैं। पाणिनि के बनाये हुए अष्टक से पीछे भाषा में जो २ भेद आये थे—उन्हें पहले वार्तिककार ने वार्तिकों द्वारा संनियमित किया—उससे भी पीछे जो भेद रहे या हुए उन्हें पतंजलि ने अपने समुद्र समान महाभाष्य द्वारा नियमित कर दिया। महाभाष्यकार ने संस्कृत व्याकरण में अन्तिम समावेश कर दिया। वह व्याकरण का अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ है।

महाभाष्य से प्रतीत होता है कि उस समय साधारण शिल्प का कार्य करने वाले या रथ चलाने वाले लोग भी संस्कृत बोला करते थे। उस से प्रतीत होता है कि ग्रामों की तथा भारत के केन्द्र के इधर उधर की भाषा यद्यपि संस्कृत से भिन्न होगई थी तो भी उसे अभी शिक्षित समुदाय में भाषा का नाम नहीं मिला था। बौद्ध धर्म का प्रभाव इतना गहरा और व्यापी नहीं हुआ था जितना प्रतीत होता है। उससे ब्राह्मणधर्म यद्यपि राख में दब गया तोभी फिर जल उठने के लिये केवल अनकूल वायु की प्रतीक्षा करता था। पुष्यमित्र ने वायु का कार्य किया। उस के समय से भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास और ब्राह्मण धर्म का पुनरभ्युदय प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मण धर्म की जागृति के साथ ही संस्कृत के भी पुनर्जीवन का आरम्भ हुआ।

प्रारम्भ तो हुआ परन्तु आगे कार्य शीघ्रता से न चला। इसका कुछ कारण तो यह था कि बौद्ध धर्म एक दम शक्तिहीन नहीं हो सकता था। उस का भी प्रभाव था। किन्तु मुख्य कारण यह था कि पुष्यमित्र के देहान्त के पीछे ईसा से पूर्व कोई महान् राजा न हुआ। भारत की राजकीय शक्ति का कोई केन्द्र नहीं था जिसके चारों ओर उन्नति की शक्तियां एकत्र होती। यह स्मरण रखना चाहिए कि जातियों की उस दशा में से उस समय आर्य जाति गुज़र रही थी, जिसमें सारी शक्तियां राज्य शक्ति के इर्द गिर्द ही घूमती हैं। विशेषतया कविता का तो आधार ही ऐसे समयों में राज सम्मान होता है। कुछ मान और कुछ धन इन की प्रेरणा ही कवियों की प्रतिभा को जगा सकती है। समाचार पत्रों और मुद्रणालयों के दिनों में कवियों और लेखकों को बहुत सी सहूलियतें हैं। बिकने के साधन बहुत हैं, समाचार पत्रों की समालोचना से ही मान तथा प्रतिष्ठा मिल जाती है। जनता से मान प्रतिष्ठा हो जाने पर

और पुस्तक विक्रेताओं द्वारा आर्थिक कठिनाइयां दूर हो जाने पर कवि लोग राजाश्रय नहीं ढूंढते। किन्तु जिन समयों में ये साधन नहीं होते उन में राजाश्रय अपरिहार्य होता है। उस के विना काम चल ही नहीं सकता।

पुष्यमित्र के पीछे भारत की राजशक्ति बिखरती गई। वह एक स्थान पर समूहरूप से न रहसकी। इसी लिये साहित्य आदि की उन्नति रुकीरहा।

शुंगवंश का अन्तिम राजा देवभूति था-उसे कण्ववंश के वसुदेव ने राज वंश के देखते देखते मारदिया-और स्वयं राजा बन गया। मगध के राजाओं का राज्य विस्तार प्रतिदिन कम होता गया। ईसा से २८ वर्ष पूर्व कण्ववंश के स्थान में आन्ध्रवंश का झण्डा पाटलिपुत्र पर लहराने लगा। आन्ध्र वंश ने यों तो लगभग साढ़े चारसौ वर्ष तक राज्य किया किन्तु कोई विशेष समृद्धि प्राप्त न की। केवल दो राजा ही नाम लेने योग्य हुए। सतरवें राजा हाल के नाम से प्राकृत भाषा का सप्तशतक नाम का काव्य प्रसिद्ध है। या तो उसे बनाया ही राजा हाल ने है और या किसी अन्य कवि ने बना कर राजा के नाम पर अर्पण कर दिया है। दोनों दशाओं में एक बात स्पष्ट है। उस समय संस्कृत भाषा को मुख्यतया राजाश्रय नहीं मिला था। यही कारण था कि सारी शताब्दियों में किसी भी संस्कृत के महाकवि का नाम नहीं मिलता।

इसी समय भारत के पश्चिम भाग में पार्थियन राजाओं के प्रतिनिधि रूप क्षत्रपों (सत्रपों) ने अपना आधिपत्य दृढ़ किया। नहपान क्षहरात के समय इन का वैभव बहुत बढ़ गया। यहां तक कि आन्ध्रराजाओं की सत्ता पर भी हाथ साफ करने का उप-क्रम होने लगा। तब आंध्रराजा भी जागे और राजा गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने क्षत्रपों का ध्वंस कर दिया परन्तु ध्वंस चिरस्थायी न रहा। उज्जैनी का क्षत्रप रुद्रदामन आन्ध्रराजा वशिष्ठपुत्र श्री पुलुमायी का श्वशुर था। यह घटना इन लोगों के ध्यान देने योग्य है जो वर्तमान ज़ात पात को अतिप्राचीन काल में चला हुआ मानते हैं। रुद्रदामन को यह सम्बन्ध भी पुराना बदला चुकाने से न रोक सका और उस ने अपने जामाता से पुराने क्षत्रपों की बहुत सी भूमि जीतली। जीत तो ली परन्तु चिर काल तक विजय श्री ने उस के वंश

का भी साथ न दिया। ईसासे १७३ वर्षके पीछे लगभग आन्ध्रराजा गौतमीपुत्र यज्ञश्रीने फिर से क्षत्रपों से लड़कर छिनी हुई भूमि छीन ली। इसी प्रकार छीना झपटी होती रही और कोई भी स्थिर प्राधान्य न पासका। आखिर ईसा से पीछे तीसरी शताब्दि के आरम्भ में आन्ध्र वंश भी समाप्त हो गया और लगभग एक शताब्दि के लिये भारत के इतिहास पर पर्दा पड़ जाता है।

आन्ध्र राज्य की एक विशेष घटना है जिस का हमारे विषय से विशेष सम्बन्ध है। काबुल के सिंहासन पर ७२ ई० प० में बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध राजा कनिष्क आरूढ़ हुआ। इस राजा ने अपने राज्य का विस्तार मथुरा तक कर लिया और पाटलि पुत्र तक भी मार की। वहां से वह बुद्ध चरित के निर्माता महाकवि अश्वघोष को साथ ले गया।

रामायण और महाभारत स पीछे पहला संस्कृत का काव्य ग्रन्थ अश्वघोष का बुद्ध चरित ही इस समय मिलता है। यह कहना तो सरासर अत्युक्ति होगी कि बुद्धचरित से पूर्व कोई और काव्य ग्रन्थ न बना होगा परन्तु इतिहासज्ञों की खोज अभी तक हमारे सन्मुख और कोई काव्य ग्रन्थ नहीं ला सकी। राजाओं की या क्षत्रपों की प्रशस्तियां को छोड़ दीजिए, पहला सर्गबद्ध महाकाव्य बुद्ध चरित ही है।

संस्कृत साहित्य के कायाकल्प में बुद्ध चरित का विशेष स्थान है। हम उस में व्याकरण और छन्दः शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा नवीन ढंग की रचना पाते हैं परन्तु भाषा और भाव वैसे परिमार्जित नहीं हुए जैसे कालिदास के ग्रन्थों में मिलते हैं। साधारणतया रचना बहुत सरल है और अपनी प्राचीनता की दुहाई दे रही।

घर से भागते हुए बुद्ध को लिए घोड़ा जा रहा है, देखिए कैसा सरल वर्णन है।

अथ सपरिहरन्निशीथचंडं परिजनबोधकरं ध्वनिं सदश्वः।
विगतहनुरवः प्रशान्तहेषश्चकित विमुक्तपदक्रमो जगाम।

उपमा या रूपक से उतनी प्रीति बुद्ध चरित में नहीं देखी जाती जितनी कालिदास के शिष्य भूत पिछले कवियों में हो गई थी। कई विद्वानों की सम्मति है कि कालिदास ने कई स्थानों पर अश्वघोष की छाया ली है। दृष्टान्त के लिए वे निम्न लिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—

अश्वघोष—

ततो धनुः पुष्पमयं गृहीत्वा शरांस्तथा मोहकरांश्च पंच
सोऽश्वत्थमूलं ससुतोऽभ्यगच्छदस्वास्थ्यकारीमनसः प्रजानाम्
अथ प्रशान्तं मुनिमासनस्थं पारं तितीर्षुं भवसागरस्य
विषज्य सावं करमायुधाग्रे क्रीडं शरेणेदमुवाच मारः ।
सर्ग १३ । श्लोक ७,८ ।

कालीदास—

उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यांमुहुराममर्श ।
कुमारसम्भव । सर्ग ३ । श्लो० ६४

एक कवि की छाया दूसरे कवि में ढूंढना कठिन नहीं है । रामायण और महाभारत की छाया काव्यमात्र में मिल सकती है किन्तु इन दो श्लोकों में ज़रा भी आतप छाया भाव नहीं है । अश्वघोष को महाकवि सिद्ध करने के लिए यह सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं है कि कालीदास ने उस से चुराया है । अश्वघोष की कविता ही उस के महा-कवित्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है । इस दृष्टान्त में तो अश्वघोष ने जो भाव दो श्लोकों में दर्शाया और केवल साधारण कृतकार्यता प्राप्त की है, उसी भाव को कालीदास ने दो पदों में दर्शा कर अधिक कृत-कार्यता पा ली है । 'शरासनज्यां मुहुराममर्श' यह एक पद एक शतक के गुण रखता है । यहां एक की दूसरे में छाया नहीं केवल विषय साम्य है ।

अश्वघोष के महाकवि होने में सन्देह नहीं । उस का काव्य यह भी सिद्ध करता है कि वह अपने समय का या इन चार शताब्दियों का एक मात्र कवि नहीं था । और भी इस के साथ के अनेक काव्य होंगे किन्तु उन में से कोई भी इस योग्य नहीं था कि संस्कृत साहित्य के पुस्त-कालय में स्थिर स्थान पा सके ।

इन गुप्त साम्राज्य काल के लिए उषाकाल के समान राज्यों के समय के हमें केवल दो ही ग्रन्थ प्राप्त हैं । एक पातंजल-महा-भाष्य और दूसरा बुद्धचरित । और कोई ग्रन्थ इस समय का प्राप्य नहीं है । इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि जो भी काव्य ग्रन्थ बने हों वे बौद्ध धर्म से

सम्बन्ध रखते हों और आगामी पौराणिक काल में उन की रक्षा न हो सकी। परन्तु तो भी इतना अभाव होना असम्भव था। भारत में नहीं तो चीन तिब्बत आदि में उन के अनुवाद अवश्य मिल जाते।

जहां यह प्रतीत होता है कि अभी संस्कृत का अत्यधिक उद्धार नहीं हुआ था वहां साथ ही यह स्पष्ट है कि उसे इतना महत्व अवश्य मिल गया था, कि बौद्ध धर्म के अनुयायी भी बुद्धदेव की महिमा संस्कृत में गाने लगे थे।

इस शिथिलता का एक बड़ा भारी कारण वह था जो ऊपर के राजनीतिक इतिहास के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो गया था। भारत में कोई स्थिर राज नीतिक केन्द्र नहीं था। पाटलीपुत्र के राजाओं का राज्य संकुचित और परिवर्तन शील होगया था। उत्तर में पार्थियन तथा यूहची राजाओं ने पैर जमा लिया था। पश्चिम में उनके क्षत्रप शासन करते थे और दक्षिण में अन्य अनेक राजा थे। ऐसी दशा में उन्नतिचक्र किस नाभि पर घूमता?

चौमुखा वैभव

साम्राज्य काल

(७)

चौथी शताब्दि के प्रारम्भ के साथ ही भारत में साम्राज्य काल का प्रारम्भ होता है। पहली शताब्दियों की शिथिलता उड़ जाती है, नया ही जीवन प्रारम्भ होता है। पहले पाटलिपुत्र में और फिर कन्नौज में हम भारत की उठती हुई राजकीय शक्ति का दृश्य देखते और चकित होते हैं, भारत के मुख्य भाग में धनुष टंकार के साथ मिला हुआ सरस्वती की वीणा का झंकार सुनाई देता है। वह समय प्रारम्भ होता है, जिस में जहां एक ओर भारत राजनीतिक दृष्टि से उन्नति के चिन्ह दिखाता है, वहां साथ ही साथ साहित्य की दौड़ में भी बाज़ी लेजाता है।

हमारे ऐतिहासिक काल के समस्त बड़े २ राजाओं का तीन चौथाई भाग इन्हीं अगली तीन शताब्दियों में हुआ-और संस्कृत साहित्य के प्रामाणिक मौलिक कवियों का भी तीन चौथाई भाग इसी समय में हुआ।

(१) जातीय जागृति अपने सारे अंगों द्वारा एक बार ही आविष्कृत होती है। उसके टुकड़े २ नहीं होसकते। जीवन के अंग पृथक् २ नहीं रखे जासकते। (२) प्रेस और समाचार पत्रों से पूर्व के समय में कोई भी साहित्य अपने उदय और फैलाव के लिए राजकीय केन्द्र का आश्रय चाहता है-वह बलवान् साम्राज्य का आधार मिलने पर ही प्राप्त होता है। (३) विदेशियों द्वारा मारी हुई और पराधीन जाति का साहित्य भी बौना और खुंदा होगा। फिर से जीवन संचार के लिए नैतिक और साहित्यिक उन्नतियां एक दूसरे का हाथ पकड़ कर चलती हैं। इन तीन सिद्धान्तों की परम्परा ही इस निबन्ध में दिखानी है। इन में से ऊपर के दो सिद्धान्त आगामी तीन शताब्दियों में विस्पष्ट हो जायंगे।

पहले हम इन सदियों की राजनीतिक बाह्य रेखा देख लेते हैं। ईसा से ३२०वर्ष पीछे पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त ने अपना संवत् प्रारम्भ किया।

यह संवत् सम्भवतः उसने अपने अनेक प्रकार के विजयों के उपलक्ष में स्थापित किया होगा। इससे लगभग दस वर्ष पीछे उक्त गद्दी पर उसका पुत्र समुद्रगुप्त बैठा। समुद्र गुप्त को इतिहास लेखक भारतीय नैपोलियन के नाम से पुकारते हैं। हमारी सम्मति में यह रूपक ठीक नहीं है। नैपोलियन भिन्न २ देशों और भिन्न २ राजाओं को जीत कर उन्हें यथेच्छ बांटना चाहता था वह जातीयता के सिद्धान्तों की पर्वा नहीं करता था, परन्तु समुद्र गुप्त का कार्य वस्तुतः दैवकार्य था। वह अनेक टुकड़ों में बंटी हुई एक ही जाति को एक सूत्र में बांधने का हेतु हुआ। इस में उसका उद्देश्य क्या था—यह हमें मालूम नहीं उसके कार्य का परिणाम यही था। उसके विजय इतिहास प्रसिद्ध हैं। उन्हें इस स्थान पर लिखना व्यर्थ है। समुद्रगुप्त के विजयों ने कई प्रकार के परिणाम उत्पन्न किये [१] अशोक के समय से सोई हुई विजय की दुन्दुभि फिर से बजादी। भारतीय जनता में जो झूठी शान्तिरूपिणी निद्रा आगई थी उसे तोड़ कर क्रिया और जीत की आभा दिखा दी। [२] इधर उधर के नये २ स्थानों में भ्रमण किया उसके अनेक विद्वानों और सेनापतियों ने भी खूब भ्रमण किया। नई नई बस्तियां, सुन्दर २ प्रदेश देखने में आये। [३] स्वयं विजय यात्रायें करके अति प्राचीन आर्य राजाओं के वैभव की संभवता लोगों के हृदयों में जमादी।

ये तीनों कारण जाति की सोई हुई प्रतिभा शक्ति को उत्पन्न करने वाले थे।

समुद्र गुप्त का साम्राज्य पूर्व में बंगाल, पश्चिम में चम्बल, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में नर्मदा द्वारा परिमित था। राज पूताना मालवा आदि में भी उसी का आधिराज्य था। लगभग ३७३ ईस्वी में इतने बड़े साम्राज्य को अपने योग्य पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के कन्धों पर डाल कर समुद्रगुप्त परलोकवासी हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय बड़ा प्रतापशाली राजा था। उसने पहले ही धावे में मालवा गुजरात और काठियावाड़ को सर कर लिया। उज्जैन के क्षत्रप रुद्रसिंह को उसने उज्जैन जाकर अपने हाथ से मारा। चन्द्रगुप्त

ने और अधिक विजय नहीं किये। एक समझदार सम्राट् की भांति वह अपने राज्य की अच्छी प्रकार रक्षा करने के लिए स्थिर होकर बैठ गया। साम्राज्य के सुशासन के उपलक्ष में ही उसे विक्रमादित्य की उपाधि मिली। चीनी यात्री फाहीन ने उसके राज्य का जो वृत्तान्त लिखा है, उससे प्रतीत होता है कि निम्नलिखित श्लोक द्वारा कालिदास ने मानों उसी के राज्यकाल का वर्णन किया है—

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनाम्
निद्रां विहारार्धपथे गतानां।
वातोऽपिनास्त्रंसयदंशुकानि
को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

जैसे आन्धी पानी के पीछे शान्त प्रकृति हृदय को खूब ही हुलसाने वाली होती है वैसे समुद्रगुप्त के राज्य के पीछे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शान्तिमय राज्य कवियों और लेखकों के हृदयों को खूब ही उत्साहित करने वाला हुआ। विक्रमादित्य का राज्य शान्ति उन्नति और समृद्धि के देने वाला था। ऐसे ही समयों में कविता और साहित्य की विशेष उन्नति हुआ करती है।

कुमारगुप्त ४१३ में राज्यारूढ़ हुआ और ४५५ के लग भग परलोक वासी हुआ। इस राजा के राज्यकाल की सब से अधिक विशेष बात यह है कि उस में साम्राज्य की खूब रक्षा होती रही। यद्यपि हूणों के प्रबल आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे, तो भी उनका विशेष प्रभाव नहीं हुआ था। साम्राज्य ठीक सुरक्षित अवस्था में चल रहा था। इस के राज्य में भी समृद्धि और शान्ति का मेल रहा, इसी लिये यह समय साहित्य की उन्नति के लिए विशेषतया सहायक हुआ।

कुमार गुप्त के पीछे स्कन्दगुप्त राजगद्दी पर बैठा। स्कन्दगुप्त गुप्त वंश की योग्य सन्तान था, उसने मध्य एशिया से आते हुए हूणों को दो बार पराजित किया और काठियावाड़ के प्रान्त को स्थिर रीति से अपने अधीन कर लिया। इस समय के जो अनेक दानपत्र मिलते हैं, उनसे

स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त के राज्य में देश ने खूब सुख समृद्धि का उपभोग किया। स्कन्दगुप्त ने भी अपने साथ विक्रमादित्य की उपाधि लगानी प्रारम्भ की थी। हूणों को दोबार पराजित करने वाले वीर के लिये यह उपाधि सर्वथा योग्य भी थी। स्कन्दगुप्त के अन्तिम समय के सिक्कों का धातुमूल्य कुछ कम प्रतीत होता है, इससे अनुमान किया गया है, कि उस समय हूणों के फिर बड़े प्रबल आक्रमण हुए होंगे-और उनमें स्कन्दगुप्त को उतनी कृतकार्यता न प्राप्त हुई होगी जितनी पहले हुई थी।

लगभग ४८० ईस्वी में स्कन्दगुप्त का देहान्त हुआ।

उसके पीछे उसका भाई पुरुगुप्त गद्दी पर बैठा। उसने स्कन्दगुप्त के समय अल्पमूल्य किये गए सिक्के को फिर से असली मूल्य तक पहुंचा दिया-जिससे प्रतीत होता है कि उसे विदेशियों के आक्रमणों से अधिक तङ्ग नहीं होना पड़ा। उसके समय भी साम्राज्य खूब सुरक्षित दशा में रहा।

लगभग ४८५ ईस्वी में पुरुगुप्त का पुत्र नरसिंह गुप्त बालादित्य राज गद्दी पर बैठा। उसके राज्य के दो कार्य सूचना योग्य हैं। इस समय हूण लोगों के आक्रमण बड़े ज़ोर शोर से हो रहे थे। प्रजा उनकी भयानक सूरत देख कर और क्रूर आवाज़ सुन कर भयभीत हो रही थी। उनका मुखिया मिहिरा गुला तो साक्षात् राक्षस ही था। उसके अत्याचारों के मारे हाहाकार मचा हुआ था। लगभग ४८८ में मध्यभारत के राजा यशोधर्मा के साथ मिल कर नरसिंह गुप्त ने हूणों के इस भयानक मुखिया को परास्त कर के उसके पैर उखाड़ दिये। नरसिंह गुप्त ने नालिन्दा में एक बड़ा भारी बौद्ध मंदिर भी बनाया था जिससे यह परिणाम निकलता है कि गुप्त राजा पौराणिक मत के कट्टर अनुयायी होते हुए भी बौद्ध धर्म के विरोधी नहीं थे। इस राजा के समय में भी गुप्त साम्राज्य का वैभव न्यून हुआ प्रतीत नहीं होता।

५३५ में नरसिंह गुप्त का उत्तराधिकारी दूसरा कुमार गुप्त राज गद्दी पर बैठा। इस राजा के समय की कोई बड़ी घटना ज्ञात नहीं-परन्तु हां

इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उसके पीछे गुप्तवंश की वह महिमा नहीं रही जो पहले थी। गुप्त वंश तो रहा पर सम्राट् बन कर नहीं। कई इतिहास लेखक दूसरे चन्द्र गुप्त के साथ, और कई पहले कुमार गुप्त के साथ ही गुप्तवंश के वैभव की समाप्ति मानलेते हैं-यह ठीक नहीं प्रतीत होता। गुप्तवंश का साम्राज्य नरसिंह गुप्त तक निर्बाध चलता रहा प्रतीत होता है। ये सवा दो शताब्दियां भारत के लिए स्वर्णीय काल की प्रतिनिधि भूत थी।

गुप्तवंश का वैभव समाप्त होगया-परन्तु साम्राज्य काल समाप्त नहीं हुआ। थोड़े से भंग के पीछे ही उज्जैन में एक नई ज्योति का आविष्कार हुआ। जिस समय गुप्तवंश के अन्तिम सम्राट् की अर्थी उठाई जारही थी-उसी समय थानेसर का राजा प्रभाकर वर्धन एक नए साम्राज्य की नींव डाल रहा था। छठी शताब्दी के प्रारम्भ में ही उसने मालवा पंजाब आदि पर अपना आधिपत्य जमालिया। ६०५ ईस्वी में प्रभाकर वर्धन का देहान्त होगया-उसका बड़ा पुत्र राज्य वर्धन एक घरेलू झगड़े में मध्य भारत के राजा शशांक के हाथ मारा गया और उसका छोटा भाई हर्ष, जो अभी बालक ही था, राजगद्दी पर बिठाया गया। राजगद्दी पर बैठते ही नवयुवक राजा ने समुद्र गुप्त का हथियार हाथ में लिया और अपनी प्रबल सेना लेकर विजययात्रा प्रारम्भ की। लगभग ३५ वर्ष तक राज्य और युद्ध के अनन्तर उसका साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक और नैपाल से गुजरात काठियावाड़ तक फैला हुआ था। ह्वेनशांग ने उस समय का जो वृत्तान्त लिखा है उससे प्रतीत होता है-कि देश में सुख और समृद्धि का पूरा२ अधिकार था। प्रजा आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करती थी। ६४७ ईस्वी में हर्ष का देहान्त हो गया और उस के साथ ही भारत में साम्राज्य काल की समाप्ति होती है।

यह इतनी शताब्दियों के इतिहास का संक्षिप्त सार है। इससे कई बातें स्पष्ट रीति से प्रतीत होती हैं।

[१] इतने समय तक निरन्तर भारत के किसी न किसी कोने में राजकीय शक्ति का एक शक्तिशाली केन्द्र विद्यमान रहा।

(२) प्रायः सारे गुप्त राजा ब्राह्मणधर्म के कट्टर अनुयायी थे, राजा हर्ष यद्यपि केवल पौराणिक या ब्राह्मण धर्म को ही मानने वाला नहीं था-पर उसे केवल बौद्ध धर्म का अनुयायी कहना भी ठीक नहीं है। उसकी श्रद्धा पौराणिक तथा बौद्ध देवताओं में बंटी हुई थी।

(३) इन में से बहुत से राजा ऐसे थे, जो साहित्य से प्रेम करते थे-और बहुत से ऐसे थे, जो स्वयं काव्य करते थे। समुद्रगुप्त वीणा लेकर बैठा हुआ है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य यदि वही विक्रमादित्य है—जिस की गाथायें भारत के बड़े से बच्चे तक की जिव्हा पर हैं—तो उसके काव्य प्रेमी और कवि होने में सन्देह नहीं।

(४) इस समय के राजा प्रायः विजय यात्राएँ करते रहे और सफल यज्ञ होते रहे। कवियों की प्रतिभा के उद्बोधन के लिए इससे बढ़कर क्या साधन हो सकता है?

(५) बहुत से विद्वान् मानते हैं कि इस समय की हर प्रकार की जागृति का एक कारण विदेशियों से सम्बन्ध होना भी है। वे लोग हमारे ज्योतिष पर यूनान का, हमारे नैतिक कार्यों पर रोमका और न जाने किस २ बात पर किस २ देश का प्रभाव ढूंढते है। इस कारण से सर्वथा इन्कार तो नहीं हो सकता। जब दो या कई प्रकार की सभ्यतायें मिलती हैं—तब उनका एक दूसरी पर प्रभाव अवश्य पड़ता है—यह स्वाभाविक नियम है। परन्तु इस सारी जागृति का कारण विदेशी सम्बन्ध को बतलाना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। यदि विदेशी सभ्यता ने ही भारत में अनेक प्रकार की जागृति पैदा की थी तो ज्योतिष के गुरुवराह मिहिर और आर्य्य भट का जन्म राजा चन्द्रगुप्त या अशोक के समय होना चाहिये था जब यूनानियों का प्रभाव नया २ था। उनके पांच छः शताब्दियां पीछे जाकर जागृति होना—और कारण उनका समझा जाना—यह विलक्षण तर्क है। यह जागृति आन्तरिक कारणों ही से थी बाह्य कारणों से नहीं। अन्दर ही ऐसे २ कारण विद्यमान थे, जिन्होंने प्रशान्त महासागर को मथ कर उस में से मोती निकालने प्रारम्भ कर दिये थे।

इस राजनीतिक इतिहास और इन उपर्युक्त कारणों को सन्मुख रखते हुए अब हम इस काल की साहित्य सम्बन्धी उपलब्धि की परख करते हैं।

साम्राज्य काल का साहित्य

(८)

ये तीन शताब्दियां कवियों से भरी हुई हैं। इस समय के जो कवि हुए उनके विशेष गुण वेही थे, जो उस समय के राजाओं के थे। जाति की जो साधारण दशा थी उसी का प्रतिबिम्ब साहित्य पर स्पष्ट रीति

१ २ ३ ४

से दीख रहा था। तेजस्विता, मौलिकता (Originality) प्रसाद और गम्भीरता—येही गुण उस समय आर्य्यजाति में थे—येही उसके राजाओं में थे—और येही उसके कवियों में थे। साम्राज्य या राष्ट्र का समूह रूप से अभ्युदय जाति के अन्दर एक विशेष जीवन की सूचना देता है—उस समय के कवियों के काव्यों में साम्राज्य का भाव प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है।

उस समय के मुख्य २ कवि ये हैं—[कवियों का समय अबतक की खोज से जो अन्यों ने माना है वही मान लिया गया है]

विष्णु शर्मा	बाण।
भास	
कालिदास	सुबन्धु।
विशाखदत्त	भर्तृ हरि।
दण्डी	राजा हर्ष।
शूद्रक	
भारवि	भवभूति।

पुराणकर्ता

इन कवियों की नामावली ही इतनी बलवती है कि व्याख्या की विशेष आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु तोभी इनमें से एक २ को लेकर परखें तो हमारा तात्पर्य और भी स्पष्टता से सिद्ध हो जायगा।

विष्णु शर्मा-विष्णु शर्मा का बनाया पंचतन्त्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसे संस्कृत से परिचय रखने वाला बालक भी अच्छी तरह जानता है। संस्कृत महोद्यान में घुसने की ड्योढ़ी पंचतन्त्र ही है। क्या इस में कोई सन्देह है कि यह ग्रन्थ अपने ढंग की पहली ही कृति है। यदि *मौलिकता* कहीं

हो सकती है तो वह पंचतन्त्र में है। क्या ही बढ़िया ढंग सोचा गया है। पीछे से पंचतन्त्र की नकल में न जाने कितने कथाग्रन्थ बने, परन्तु वे पंचतन्त्र की शृंखला बद्धता को, महत्त्व को और प्रियता को नहीं पा- सके। निराला ढंग पंचतन्त्र की पहली विशेषता है।

यह साम्राज्य काल में होने का प्रथम चिन्ह है, किन्तु सबसे आवश्यक चिन्ह नहीं। जो ग्रन्थ राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व के समय लिखे जायं, उनका इससे अधिक और क्या चिन्ह हो सकता है कि वे आदि से अन्त तक *राजनीतिक* बू लिये हुए हों। पंचतन्त्र में केवल राजनीतिक बू नहीं वहां तो सारे काव्य का उद्देश्य ही राजनीति की शिक्षा है। राजनीति की शिक्षा भी निराशायुक्त या वैराग्ययुक्त नहा है—प्रत्युत विजय के सिद्धान्त को लिये हुए है। एक उत्तमराजा के कर्तव्य विष्णु शर्मा ने आधे पद्य में रख दिये हैं

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः।

जो राजा अपने राज्य की परिधि से और प्रजा के सुख की मात्रा से सन्तुष्ट हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है, उसे सुख नहीं मिलता। पंचतन्त्र के अन्दर हमें बढ़ता हुआ राजधर्म प्रतीत होता है—गिरता हुआ राज- धर्म नहीं। यदि उस समय आर्य्य जाति का जीवन राजनीतिप्रधान न होता तो पंचतन्त्र की रचना भी न हो सकती। समझने के लिये हम यह देख सकते हैं कि ११ वीं या १२ शताब्दि में पंचतन्त्र की रचना असम्भव थी। हमारी नैतिक दशा ही इस समय ऐसी न थी।

साथ ही इसमें भी सन्देह करना युक्ति विरुद्ध सा प्रतीत होता है कि पंचतन्त्र जैसे ग्रन्थ अपने समय के इतिहास पर प्रभाव भी डालते हैं। न जाने कितने राजपुत्रों ने विष्णुशर्मा से असन्तोष का पाठ पढ़ा होगा।

पंचतन्त्र को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उसकी रचना ऐसे समय में नहीं हुई जब संस्कृत सर्वथा पण्डित लोगों की भाषा रहगई थी। अ- वश्य ही वह उस समय के विशेष २ स्थानों—विशेषतया राजदर्बारों में—प्रयुक्त होती होगी। इसी लिये उसकी *भाषा बड़ी सरल और स्वाभाविक* है। इसमें कृत्रिमता नहीं आई। अभी नकल और बनावट का समय नहीं आया।

महाकवि भास

महाकवि भास का नाम आज से कुछ वर्ष पूर्व ऐसे था-जैसे कोई गहरी भूमि में दबा हुआ एक बड़ा भारी ख़ज़ाना हो। वह एक प्रकार का गुप्त देवता हो रहा था-जिसकी खोज सब का थी-परन्तु पा कोई नहीं सकता था। महाकवि कालिदास ने उसकी प्रशंसा का, महाकवि बाण ने उसका महत्त्व गाया-किन्तु यह ज्ञात नहीं था कि 'किमिदं यत्तमिति'। अभी कुछ साल हुए मद्रास से भास के नाटकों का उद्धार हुआ है। उन नाटकों ने संस्कृत साहित्य संसार को अपनी ओर एकदम खेंच लिया है। पुराने कवि का यह कथन कि 'सरस्वत्या हासो भासः' अब ठीक प्रतीत होता है। महाकवि भास के बहुत से नाटकों ने प्रकाशित होकर बतला दिया है कि उनका रचयिता सचमुच एक मौलिक साहसी और उत्कट कवि था।

भास से पहले के नाटक प्राप्त नहीं होते। होंगे अवश्य परन्तु मिलते नहीं। मृच्छकटिक भी भास से पूर्व का प्रतीत नहीं होता। इस लिये यहां इस बात पर बल देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि नाटक किसी देश में उसी समय बनते हैं, जब उसमें कोई ऐसी घटनायें हो रही हों, जो हृदय पर स्वभावतः चोट पैदा करें। इतिहास के विशेष घटना रहित समय में नाटकों की रचना का प्रारम्भ नहीं हो सकता। इस लिये भास को साम्राज्य कालिक मानना अस्वाभाविक नहीं है।

भास में अपने समय के सब चिन्ह विद्यमान हैं। उसने हरएक नाटक में कथा तो पुरानी ही ली है, परन्तु उसे सर्वथा अपने ढंग पर घड़ लिया है। उसकी कविता भावगर्भ है, बनावट का उसमें नाम नहीं, वीररस में ओज और अन्यत्र प्रसाद का बड़ी योग्यता से प्रयोग किया गया है। सब से बड़ी बात यह है कि सभी नाटक सुखान्त हैं-यह भारतीय नाटक की विशेषता है-उसमें कोई भी नाटक दुःखान्त नहीं हो सकता-इस से जहां यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में जिस समय नाटक की रचना स्थिर रूप से प्रारम्भ हुई उस समय आर्यजाति का सितारा ऊंचा था, किसी कार्य में अकृत-कार्यता किसे कहते है, इसे वे न जानते थे-वे व्यवहार में यही जानते थे कि राजा जीत ही लेता है, प्रेमी अपनी प्रेयसी को पा ही

लेता है—और शान्ति का अभिलाषी शान्ति से वंचित नहीं रहता, वहां साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि इस समय के भारतवासियों का निराशावादी (Passimist) कहना भारी भूल है। हमारे प्राचीन महाकवि निराशावाद को जानते ही न थे।

कालिदास

कविकुल चूड़ामणि कालिदास के विषय में इतना कुछ लिखा और कहा जा चुका है कि अब अधिक लिखना व्यर्थ है। इसलिये यहां हम उसकी प्रशंसा के पुल बांधने का कार्य न करेंगे। यदि एक बात निर्विवाद है तो वह यह है कि कालिदास साम्राज्य शक्ति का एक जीवन्त चिन्ह है। उसके काव्यों में यदि कोई ऐसा भाव है, जो अन्य सब भावों से ऊपर कार्य करता है तो वह विजय का, कृतकार्यता का, और अपरिमेय विजयैषणा का। रघुवंश पढ़ते हुए किसी किसी समय प्रतीत होता है कि हम किसी राजा की चतुरंगिणी सेना में चले जारहे हैं—हमारे चारों ओर घोड़े हिनहिना रहे हैं प्रत्यंचा गूंज रही है—और हथियार एक दूसरे से रगड़ खा २ कर बज रहे हैं। रघु की विजय यात्रा का वर्णनीय आदर्श यदि कोई हो सकता है तो वह समुद्र गुप्त की विजय यात्रा ही है—दूसरा नहीं। मेघदूत में यद्यपि है तो केवल प्रेम भरा हृदयोद्गार—परन्तु उसमें हमें तो यह एक पद सारे काव्य का सारभूत प्रतीत होता है।

दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्।

क्या महत्त्वाकांक्षा इससे अधिक भाग सकती है—

गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य
निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात्।

शाकुन्तल में भी राजा दुष्यन्त का शक्र की सहायतार्थ स्वर्ग में जाना उस समय के राजाओं की विजयैषणा की पराकाष्ठा को सूचित करता है। मौलिकता यदि कालिदास में नहीं थी, तो कहीं नहीं थी। कविता उसकी स्वाभाविक है। सारांश यह कि कालिदास की कविता साम्राज्य काल की प्रतिनिधि भूत है।

विशाखदत्त

चन्द्रगुप्त मौर्य ने जो विजय प्राप्त किये थे, उनका गान करके विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सन्मान किया हो तो आश्चर्य नहीं। इतना कहने के लिए बड़े साहस की आवश्यकता नहीं है कि पंचतन्त्र और मुद्राराक्षस यदि एक सदी के नहीं तो एक काल के अवश्य हैं—और वह काल अत्यन्त राजनीतिक साम्राज्य काल ही हो सकता है। मुद्राराक्षस की मुख्य कथा क्या—सम्पूर्ण विषय हीं राजनीतिक है। ऐसा सम्पूर्णतया राजनीतिक नाटक अन्य नहीं है। मुद्राराक्षस उस समय की सूचना देता है जब जाति में ऊपर से लेकर नीचे तक राजनीति का प्रवेश था। मुद्राराक्षस में कथा संग्रथन की मौलिक चातुरी, और भाषा की स्वाभाविक रचना मिलती है। वही उठता हुआ साहस—बनते विगड़ते हुए साम्राज्य—और वही सुखान्त घटनाचक्र—सब कुछ उसी स्वर्णीय समय की सूचना देता है, जिस में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य स्थापन किया था। मुद्राराक्षस के गद्य और पद्य में एक विशेष बल है, जो इसी कथासंग्रथन के साथ हो सकता है अन्यथा नहीं।

दण्डी

दण्डी के गद्य ग्रन्थ में राजपुत्रों के साहसिक कार्यों की गाथा है। नायक राजपुत्र और फिर उनके भी साहसिक कार्य। ये एक जीवित जागृत समय की सूचना देते हैं। दश कुमार चरित किसी का अनुकरण नहीं है। अद्भुत पद लालित्य के साथ अनूठा साहसिक कथा सन्निवेश रक्खा गया है। हम दश कुमारों के चरित में किसी राजकुमार को कायर और उत्साह हीन नहीं पाते। वे सब जीवित राजकुमार प्रतीत होते हैं। गद्य की रचना बड़ी ओजस्विनी है। जहां प्रसाद या मधुरता की आवश्यकता है—वहां उनका भी प्रयोग किया गया है।

शूद्रक

समय का सब से अधिक प्रभाव शूद्रक के मृच्छकटिक पर प्रतीत होता है। यद्यपि गाथा एक सद्गृहस्थ की बनाई गई है, तथापि कहानी का अन्त एक राज्य परिवर्तन के साथ होता है। प्रतीत होता है कि जिस समय मृच्छकटिक बना—उस समय का जीवन मुख्यतया राजनीतिक जीवन था। यह दृश्य और स्थानों में कम मिलेगा। फिर मृच्छकटिक में वही साम्राज्यकालिक स्वाभाविक रचना—वही ओज–वही प्रसाद—और कथा संग्रथन में वही मौलिकता पाई जाती है। सब से बड़ी बात यह है कि एक गृहस्थ को नायक मानकर तो प्रबन्ध रचा गया—और फिर भी राजनीतिक सहयोग नहीं छूट सका।

भारवि

भारवि कवि संस्कृतसाहित्य के आजकल भुलाये हुए कवियों में से एक है। प्राचीन अलंकार शास्त्रज्ञ उसकी महिमा जानते थे–परन्तु आज-कल के साहित्य जगत् में उसे उचित स्थान नहीं दिया गया। हमारी सम्मति में, पद्य काव्य की रचना में भारवि का वही स्थान है, जो दृश्य काव्य की रचना में भवभूति का है। कई दृष्टियों से महाकवि कालिदास से यह कवि थोड़ा न्यून होते हुए भी कई अन्य गुणों में उस से बाज़ी मार जाता है। उक्ति के सौष्ठव में भारवि निःसन्देह कालिदास से अच्छा है। भारवि के काव्य का तेज अंधे को भी दिखलाई देता है। आदि से अन्त तक ओज और वीरता की धारा है, जो हमें अन्य किसी काव्य में नहीं मिलती किरातार्जुनीय के ग्यारहवें सर्ग के विषय में तो हमारी सम्मति है कि संस्कृत साहित्य में भगवद्गीता से उतरकर जीवन फूंकने वाला यदि कोई काव्यखण्ड है तो वह यही सर्ग है। हमारी तो सम्मति है कि कई अंशों में किरातार्जुनीय रघुवंश से भी बढ़ गया है। आशावाद इस काव्य में भरा पड़ा है। मृत जातियों के लिए जैसी कविता की आवश्यकता है, वही इसी कविता की है। भारवि की कविता में बनावट बहुत नहीं है और न ही किसी की नकल है। साम्राज्य और विजय का इस से उत्तम चित्र क्या हो सकता है?

साम्राज्य कालिक कवियों का पहिला समूह समाप्त होता है। हमारी सम्मति में यह समूह गुप्त साम्राज्य की समाप्ति पूर्व ही समाप्त हो गया था। अगला समूह गुप्त साम्राज्य से आगे का है। साम्राज्य कालिक कवियों के इन दो समूहों में से पहला समूह अपने समय की राजावली की भांती भारत के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। इन की ऊंचाई को पिछले समय के कवि नहीं पासके। ये कवि अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के आधारस्तम्भ हैं-वाल्मीकि और व्यास उस की जड़ में समझने चाहियें।

पुराण

साम्राज्य कालिक कवियों के इस प्रथम समूह को समाप्त करने से पूर्व पुराणों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है।

पुराणों के विषय में अब बहुत अधिक विवाद नहीं रहा। पुराण की पहली से पहली रचना ईसा की प्रथम शताब्दि तक पहुंचती है और उन के अन्तिम से अन्तिम भाग तो शायद १६ वी शताब्दि तक पहुंच जायं। उन के कई भाग ही नहीं, कम से कम तीन चार पुराण साम्राज्य काल में पूर्ण होचुके थे और सम्मानित भी समझे जाते थे। हम नहीं कह सकते कि उन पुराणों का कितना २ भाग उस समय बना था परन्तु एक बात निश्चित है। यद्यपि पुराणों का मुख्य विषय सृष्टि की उत्पत्ति के साथ देववंशों का वर्णन था तो भी पुराणों में राजवंशों का वर्णन आवश्यक समझा गया है। पुराणों की लेख शैली भी स्वाभाविक और मधुर है। रचना की भी मौलिकता में सन्देह नहीं। अभी अनुकरण काल और टीकाकाल का प्रारम्भ नहीं हुआ।

दो और बातें है, जिन पर हम इस समूह को छोड़ने से पूर्व ज़ोर देना चाहते हैं।। साम्राज्य काल की जागृति केवल राजनीतिक नहीं थी। जैसे पहले एक परिच्छेद में हम बता आये हैं वह मुख्यतया धामिक थी। चन्द्रगुप्त समुद्रगुप्त आदि यद्यपि अपनी प्रजा के बौद्ध या ब्राह्मण धर्मानुयायी भागों के साथ व्यवहार में कोई भेद नहीं रखते थे, तो भी उन का ब्राह्मण धर्मानुयायी होना ही ब्राह्मण धर्म की विशेष जागृति का हेतु हुआ। वे कट्टर ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। उनका साम्राज्य बौद्धधर्म के विरुद्ध एक भारी चट्टान के समान था। उस ने बौद्ध-धर्म की शक्ति को दलित कर दिया।

क्रिया--प्रतिक्रिया

इस से धार्मिक और साहित्यिक परिवर्तन साथ २ चले । साहित्यिक परिवर्तन अच्छा था, परन्तु जो धार्मिक परिवर्तन हुआ हम नहीं कह सकते कि वह सर्वथा अच्छा था। उसमें कई निर्बलता के अंश विद्यमान थे। सब से बड़ा निर्बलता का अंश उस में यह था कि नया धर्म अत्युक्तिप्रधान बन रहा था। वस्तुतः यह बात कहना सर्वथा ठीक है कि इस परिवर्तन काल में राजनीतिक परिवर्तन ने धार्मिक तथा साहित्यिक परिवर्तनों को उत्पन्न किया और धार्मिक तथा साहित्यिक परिवर्तन एक दूसरे पर बराबर प्रभाव उत्पन्न करते हुए चले गये। यहां तक कि अन्त में जाकर वे राजनीतिक दशा पर भारी प्रभाव डालने वाले हुए।

पहले धर्म की दशा हम देख चुके हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का धर्म पौराणिक धर्म के रूप में परिणत हो रहा था । अत्युक्ति पूर्ण पुराणों ने आय जीवन के प्रत्येक भाग में अत्युक्ति डालदी। साहित्य पर अत्युक्ति की ज़हर धीरे २ प्रभाव उत्पन्न करने लगी।

इस के सिवा एक और बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। बौद्धधर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ होगई। प्रतिक्रियायें कभी सीमा के अन्दर नहीं रहा करतीं। वह सदा मर्यादा का उल्लंघन कर जाया करती हैं। बौद्ध-धर्म के आचार व्यवहार और अहिंसा वाद के विरुद्ध बड़े ज़ोर शोर से प्रति क्रिया होने लगी। परिणाम क्या हुआ? बौद्ध धर्म के कठोर आचार-नियमों से छूटते ही लोग विषय भोग की उत्तमता के सपने लेने लगे। देव गाथाओं में आचार हीनता ने पहले पहल प्रवेश किया और फिर उसने पुराणों के अध्यायों में, कवियों के काव्यों में और लोगों के घरों में भी प्रवेश किया दीखता है। हमारे काव्यों का शृंगाररस प्रधान होना बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। जिन लोगों के पूर्वज उपनिषदों के विशुद्ध और निर्लेप सिद्धान्तों के अनुगामी होते थे, उनका

निर्लज्जतासे विषय भोग की उत्तमता की आघोषणा देना और उन के साहित्य के प्रधान भाग का शृंगारप्रधान होना सिवा इस के समझ में ही नहीं आसकता कि हम उस में क्रिया प्रति क्रिया के सिद्धान्त को काम करता हुआ मानलें। वस्तुतः इस समय बड़ी ज़बर्दस्त प्रति-क्रिया हुई। उसीसे शृंगार ने हमारे साहित्य में मुख्यता पा ली- इसी लिये हमारे धार्मिककार्यों में हिंसा ने इतना स्थान पालिया। वैराग्य की प्रतिक्रिया महाराग ही है--साधारण राग नहीं। तभी से हमारे साहित्य को शृंगाररसने व्याप्त कर लिया। साम्राज्यकाल में वह शृंगाररस मनुष्यत्व-सहित रहा। शृंगाररस का आधा आसन लेने वाला वीररस भी विद्यमान रहा। किन्तु धीरे २ वीरता की खेलों के साथ वीररस भी समाप्त होगया। धीरे २ शृंगाररस ने वीररस को खा लिया। जब वीररस का चित्र हृदय पर अंकित करने वाले समुद्र- गुप्त और श्रीहर्ष जैसे राजा न रहे तब वीर-रस का स्थान शृंगार ने ही लेलिया। कौन कह सकता है कि इसी शृंगार प्रधानता ने हमारे पूर्वजों के साधारण जीवन पर घातक प्रभाव नहीं डाला और यही अन्त में हमारे अधःपात का कारण नहीं हुआ।

प्रति-क्रिया के कारण विषय वासना की ओर विशेष रुचि ने साहित्य पर जो गन्दा प्रभाव उत्पन्न किया वह काव्यों से स्पष्ट है। उस से किसे इन्कार हो सकता है? धर्म पर उसका जो असर हुआ, वह पुराणों में देखिए। देव गाथाओं से कोई ऊंचा आचार प्रकाशित नहीं होता। धर्म में सब जगह अत्युक्ति ही अत्युक्ति मिलती है। विषय वासना और अत्युक्ति परस्पर एक दूसरे को सहायता देते हुए और साहित्य तथा धर्म पर प्रभाव उत्पन्न करते हुए चलते हैं और उन की राजनीति की किश्ती भी ले बैठते हैं।

साम्राज्य काल का दूसरा
कवि समूह
हर्षीय समूह

दूसरा कविसमूह लगभग एक ही आधी शताब्दि का है। वह कन्नौज के राजा हर्ष की आधी शताब्दि थी। इस समूह को यदि

हर्षीय समूह कहें तो अशुद्ध न होगा। बाण तो श्रीहर्ष की सभा में ही था --और सुबन्धु तथा भर्तृ हरि भी उस से कुछ पूर्व पीछे के ही हैं। इनमें कोई अधिक अन्तर नहीं हैं। इन में से राजा हर्ष की कोई वास्तव कृति भी है या किसी अन्य कवि ने उसके नामसे ही बनादी हैं यह सन्दिग्ध है। दूसरी कल्पना अधिक सबल प्रतीत होती है। सम्भवतः रत्नावली राजा हर्ष के नाम पर धावक या बाण की बनाई हुई है। प्रसिद्ध भी ऐसा ही है--और वह प्रसिद्धि ठीक प्रतीत होती है।

सुबन्धु और बाण दोनों एक ही श्रेणि के कवि हैं। संस्कृत साहित्य जिस ओर धीरे २ जा रहा था उसका ज्ञान दण्डी के गद्य काव्यों से सुबन्धु और बाण की कविताओं की तुलना करने से हो जाता है। दण्डी ने वर्णनों में अत्युक्ति को परा काष्टा तक नहीं पहुंचाया-सुबन्धु तथा बाण ने पहुंचा दिया है। दण्डी के दशकुमार चरित में अत्यधिक लम्बे २ समस्त पद नहीं हैं --सुबन्धु और बाण के ग्रन्थों में हैं। इन्हीं दो विशेषताओं के कारण सुबन्धु और बाण के ग्रन्थ उद्भट कवित्व शक्ति के द्योतक होते हुए भी मनोहर नहीं हैं। उनकी मनोहारिता कुछ कम हो गई है।

इतना होने पर भी भर्तृहरि सुबन्धु तथा बाण की कविताओं में साम्राज्यकाल के चिन्हों का अभाव नहीं है। वही नवीनता वही ओज वही बल और वही उदार भाव इन काव्यों में झलक रहे हैं। इस बात को सूचित करने के लिये इन ग्रन्थों का थोड़ा सा अनुशीलन ही पर्याप्त है। राजा हर्ष का राज्य थोड़ा समय रहा-इस लिये उस में साम्राज्य काल के पूरे चिन्ह नहीं मिलते--पर उनकी सत्ता निर्विवाद है। इन्हें साम्राज्य-काल में रखने के पक्ष में सब से बड़ा प्रमाण लोक है। लोक से भर्तृ हरि तथा बाण का कवियों में स्थान पूछिये तो वे बहुत ऊंचा बतायंगे। मौलिकता इन सब का विशेष गुण है। इन कवियों के विषय में अतएव अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। बाणभट्ट के विषय में इतना विशेष जान लेना चाहिये कि वह वस्तुतः सर्वगुणसम्पन्न साम्राज्य कालिक महाकवि था। उसका ग्रन्थ पढ़ते हुए यही प्रतीत होता है कि हम शब्द माला में से नहीं-सैन्यमाला में से गुज़र रहे हैं।

भवभूति

राजा हर्ष की मृत्यु के साथ साम्राज्य काल समाप्त होता है। भवभूति कवि इस से पीछे हुआ। उसका स्थान साम्राज्य काल में समय की दृष्टि से नहीं है—परन्तु फिर भी हमारी राय है कि उसकी परिगणना साम्राज्य कालिक कवियों में ही होनी चाहिये। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो उसका समय साम्राज्य काल के ऐन समीप सातवीं शताब्दि की समाप्ति पर ही है। उसकी कवित्व शक्ति उसकी प्रतिभा ये सारी बातें उसे साम्राज्य कालिक कवियों के साथ अधिक मिलाती हैं। हां—एक विशेषता है। भवभूति के काव्यों में वह आशा की झलक नहीं है, जो साम्राज्य काल के काव्यों में पाई जाती है। एक यही न्यूनता है। उसके काव्यों में एक विशेष निराशा का प्रवाह बह रहा है। मन की कली खिली नहीं। 'उत्तरे रामचरिते भवभूति र्विशिष्यते' उत्तर रामचरित भवभूति के काव्यों में से ही नहीं, कई अंशों में सारे संस्कृत साहित्य में उत्कृष्ट ग्रन्थ है। और वह करुणरस प्रधान ग्रन्थ है। मालती माधव यों तो शृंगाररस प्रधान है—किन्तु उसकी भूमिका के 'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां' इत्यादि भाग निराशा की एक विशेष उग्रता को प्रकट करते हैं। मालती माधव में उत्तम भाग तो बहुत से हैं परन्तु उसका सर्वोत्कृष्ट भाग वही है जहां माधव को मरा जान मकरन्द ने आक्रन्दन किया है—

आपूर्णश्चकलाभिरिन्दुरमलो यातश्च राहो र्मुखम्।
संजातश्च घनाघनो जलधरः शीर्णश्च वायोर्जवात्
निर्वृत्तश्च फलेग्रहिद्रुमवरो दग्धश्चदावाग्निना
त्वंचूडामणितां गतश्च जगतो यातश्च मृत्यो र्वशम्।

इस के जोड़ का श्लोक मालती माधव में क्या; उत्तर रामचरित में भी शायद ही हो। माधव में भी कवि की उत्कृष्टता वहीं है जहां करुणरस प्रधान है। भवभूति है ही करुण रस का कवि। यदि यह कवि सुखान्त नाटक न लिख कर दुःखान्त नाटक लिखता तो निःसन्देह ग़ज़ब करदेता।

भवभूति का करुणा रस प्रधान काव्य बुझते हुए साम्राज्यदीप

पर चार आंसू प्रतीत होते हैं। उसकी निराशा निष्कारण निराशा नहीं। उसका मूल भारत के गौरव का अधःपात है। भवभूति अपनी आंखों के सन्मुख गिरते हुए साम्राज्य भवन को देख २ कर रोता होगा—और निम्न लिखित श्लोक गाता होगा।

पुरायत्रस्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्।
विपर्यासं यातो घनविरल—भावः क्षितिरुहाम्।

वस्तुतः भवभूति साम्राज्यकाल की चिता का मंत्रपाठक था। वह अपने से थोड़े ही पूर्व काल का स्मरण कर के आंसू बहाता है। उस का करुणरस उसी आर्त दशा का चित्र प्रतीत होता है। इसलिये यह प्रतिभा सम्पन्न कवि साम्राज्य काल का समापक समझना चाहिये। उस उज्ज्वल साम्राज्य काल के नाशपर आप काल राक्षस को कितना ही कोसों—किन्तु एक बात के लिये उसका कृतज्ञ भी होना चाहिए। साम्राज्य काल की चिता न होती तो भवभूति उसपर आंसू न बहाता—और कविता देवी अपना वह करुणापूर्ण मनोहर रूप हमारे साम्हने न लासकती जो उत्तर राम चरित के मिस से लाती है। भवभूति के नाटक वस्तुतः अपने समय के इतिहास के प्रतिमूर्ति मात्र हैं।

-—::०::-

मध्य काल—अनुकरण की सदियां

(६)

अर्वाचीन काल को भी तीन भागों में बांटा जा सकता है—साम्राज्य काल, मध्यकाल, और पराधीनता का काल। पराधीनता का काल ग्यारवीं सदी से प्रारम्भ होजाता है। साम्राज्य काल सातवीं सदी की समाप्ति से पूर्व ही समाप्त होजाता है। बीच की लगभग चार सदियों को मध्यकाल समझ सकते हैं।

इस समय की कई विशेषतायें हैं।

(१) इन सदियों में भारत का कोई राजनीतिक केन्द्र नहीं रहा। राजशक्ति बिखर गई। यत्न कई हुए, परन्तु पूरी सफलता किसी को न मिली। इसका एक कारण शायद यह हो कि इतने दिनों तक भारत पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुए। इस लिये यूनानियों और हूणों के आक्रमणों ने पहले साम्राज्य स्थापना के लिये जो कार्य किया था—वह अब न हो सका। कारण कुछ ही हो—इस में संदेह नहीं कि ये आगामी सदियां राज शक्ति के केन्द्र से हीन सदियां थीं।

(२) इस समय की दूसरी विशेषता यह थी कि राजा लोग यद्यपि साम्राज्य स्थापना के योग्य नहीं होते थे तोभी पुराने राजाओं का अनुकरण करने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे। एक छोटे से शत्रु को पराजित करके भी विक्रमादित्य—बालादित्य—विनयादित्य आदि, उपाधियां अपने आगे लगा लेते थे और अपनी लम्बी २ प्रशस्तियां लिखवाते थे। अनुकरण में कोई कसर नहीं होती थी।

(३) जैसे हम आगे दिखायंगे, साम्राज्य के न होते हुए भी उस समय प्रबलराज्यों का अभाव नहीं था। प्रबलराज्य थे—और उनके शासकों में ९९ फीसदी पौराणिक मतानुयायी थे। इस समय के बड़े राजवंशों में से केवल एक बंगाल का पालवंश ही बौद्ध धर्म का पक्षपाती प्रतीत होता है—और कोई वंश नहीं। इस लिये प्रायः सब दरबारों में संस्कृत का प्रचार था।

(४) यह सब कुछ था —किन्तु जहां तक हमें उस समय की धार्मिक सामाजिक, और राजनीतिक दशा का ज्ञान होता है—वह गुप्त साम्राज्य का उत्तरार्द्ध मात्र मालूम होता है–और उत्तरार्द्ध भी नवीन नहीं, अनुकरणमय। नैतिक नवीनता कोई थी ही नहीं। धर्म में उन पुराण ग्रन्थों को धर्मग्रन्थ माना जाने लगा था, जो गुप्तकाल में संकलित हुए थे। सामाजिक दशा सर्वथा साम्राज्यकाल के अनुसार प्रतीत होती है। उसी काल के पद्यमय नीति ग्रन्थों के अनुकरण में इस समय का राजशासन तथा नीति व्यवहार चलता प्रतीत होता है।

इन सब विशेषताओं को साम्हने रखकर आप यदि उस समय के साहित्य पर दृष्टि डालेंगे, तो आपको प्रतीत होगा कि साहित्य इन दशाओं की प्रतिच्छवि मात्र है।

पूर्व इसके कि हम साहित्य क्षेत्र पर एक सरसरी नज़र दौड़ायें, उस समय की नैतिक घटनाओं की तालिका को देखना आवश्यक है, ताकि उस समय की विशेषताओं को भली भांति समझ सकें।

इन सदियों में राजशक्ति का एक केन्द्र नहीं था—राजकीय शक्ति के चार जुदा २ चमकते सितारे दिखाई देते है। इस काल ने चार प्रान्तों में प्रतापी राजवंश उत्पन्न किए। वे प्रान्त ये है—

(१) काश्मीर (२) कन्नौज (३) मालवा (४) बङ्गाल

काश्मीर

काश्मीर बहुत पहले काल में कभी स्वतन्त्र और कभी पराधीन होता रहा। कनिष्कादि के साम्राज्य में काश्मीर भी सम्मिलित था। यह गड़बड़ का प्रभाव वहां से छठी शताब्दि के मध्य में उठा, जबकि राजा दुर्लभबन्धु ने कर्कोटा वंश स्थापित किया। तब से वहां का स्वाधीन राज्य प्रारम्भ हुआ। ग्यारहवीं शताब्दि तक काश्मीर के राजा बराबर देश का स्वाधीन शासन करते रहे। इस बीच में कई बड़े २ राजा हुए, उन्होंने नैपाल और बंगाल तक हाथ फैलाए। ऐसे राजाओं में से जयपीड़ विनयादित्य प्रसिद्ध है। ये राजा बराबर पौराणिक धर्म का पक्ष करते और संस्कृत के कवियों को आश्रय देते रहे।

कन्नौज

राजा हर्ष के पीछे ग्यारहवीं शताब्दि तक कन्नौज का राजछत्र सुरक्षितरहा—उस समय राजा जयचन्द ने अपनी करतूतों से न केवल कन्नौज पर—सारे भारत के मस्तक पर विदेशी पांव धरा दिया। राजा जयचन्द के साथ कन्नौज का महत्त्व समाप्त हुआ। कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के समय में ही भवभूति ने सरस्वती देवी की उपासना की थी।

मालवा

मालवा में स्वाधीन प्रबल शासन जरा देर में प्रारम्भ हुआ। उपेन्द्र कृष्णराज ने वहां परमार वंश का शासन स्थापित किया। उसी वंश में ९७४ ईस्वी में राजा मुञ्ज हुआ—धनंजय और धनिक कवि इसी राजा के समय में हुए। राजा मुंज के पीछे मालवा की गद्दी पर वह राजाभोज आया, जिसने संस्कृत साहित्य के संरक्षकों में अपना नाम लिखाकर कुछ देर के लिए विक्रमादित्य की विभूति को भी पीछे डाल दिया। इसी राजा की आज्ञा थी कि यदि कोई राज पुत्र भी विद्वान् न हो वह मेरी राजधानी धारा से निकल जाय और जो निर्धन से निर्धन भी विद्वान् हो वह मेरे राज्य में रहे। कहते हैं कि महमूद ग़ज़नवी से जिन राजाओं को लड़ना पड़ा था—उनमें से एक भोज भी था।

बंगाल

बंगाल में पहले ७३० में स्थापित हुए प्रतापी पालवंश ने और फिर सेन वंश ने चिरकाल तक राज्य किया। इनमें से पालवंश के राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और सेनवंश के राजा पौराणिक धर्म के अनुयायी थे। सेन वंश का वह प्रसिद्ध राजा बल्लाल सेन था—जिसका नाम संस्कृतज्ञों को अविदित नहीं है।

भारत की राज शक्ति के ये छोटे २ चार उप केन्द्र रहे। इस काल के काव्य भी प्रायः इन्हीं स्थानों में बंट जाते हैं। पाल वंश को छोड़कर और सब राज वंशों ने संस्कृत के कवियों को आश्रय दिया और साहित्य भंडार को पूर्ण कराया।

इस सामान्यसी तालिका को देखने से ही प्रतीत होजायगा-कि इस काल में साम्राज्य काल वाली मौलिकता और ओजस्विता साहित्य में नहीं मिलसकेगी। ओज और तेज के उत्पन्न करने वाली विजय यात्रायें नहीं हैं। मस्तिष्क में अनूठी स्फूर्ति पैदा करने वाली अद्भुत घटनाओं का अभाव है। साहित्य की दृष्टि से भी यह अनुकरण काल है। नाटक बनते हैं तो साम्राज्य काल में बने हुए नाटकों के ढंग पर-काव्य बनते हैं तो उस समय के काव्यों के कदमों पर कदम रखते हुए। दो एक विशेषतायें अवश्य होती जाती हैं। (१) एक तो साम्राज्य काल में संस्कृत साहित्य के जो दोष थे, वे निरन्तर बढ़ते जाते हैं। अन्युक्ति अस्वाभाविक दशा तक पहुंच जाती है [२] लम्बे २ समास पद काव्य की शोभा को बिगाड़ने लगते हैं। बाण और सुबन्धु की बीमारी हर जगह घर कर जाती है (३) शृंगार रस, जो साम्राज्य काल में प्रतिक्रिया मात्र था-अब लम्पटता के रूप मे प्रकट होकर साहित्य की रगरग में व्याप्त होजाता है, [४] इसी समय साहित्य पर भी अलंकार शास्त्र की वह बेड़ियां पड़नी प्रारम्भ होती हैं, जो धीरे २ साहित्य की स्वच्छन्द वृद्धि को वैसे-ही बांध देती हैं, जैसे भाषा को व्याकरण ने बांध दिया था।

इस समय के कवियों में से मुख्य २ ये हैं।

कविराज	पद्मगुप्त	कृष्णमिश्र	श्रीहर्ष
माघ	क्षेमेश्वर		जयदेव
भट्टनारायण	बिल्हण	सोमदेव	
राजशेखर	दामोदर मिश्र	क्षेमेन्द्र	

देखिये कवियों की सूचि कितनी बड़ी है ? इस सूचि में कई ऐसे नाम है जिन पर संस्कृत साहित्य के प्रेमी झूमते हुए नही थकते। माघ काव्य का अनूठा ही गौरव है—श्रीहर्ष की प्रतिभा का पारावार नहीं क्षेमेन्द्र का अपना ही सौन्दर्य है—चण्डकौशिक नाटक के कई भाग संस्कृत के उत्तम से उत्तम नाटक के साथ टक्कर खाते है। सोमदेव जयदेव आदि कवियों के नाम कवि श्रेणि में बहुत ऊंचे लिखे गये है। ये कवि नीची कोटि के नहीं परन्तु इनमें भास कालिदास बाण और भवभूति नहीं

मिलते। उनके से चमकीले नामों का प्राप्त होना कठिन है। ये भी सब ज्योतियां हैं परन्तु दूसरे दर्जे की। माघ और श्री हर्ष की बहुत बड़े कवियों में गिनती है, परन्तु इन कवियों की कवित्वशक्ति का पूरा सम्मान करते हुए भी हम अवश्य कहेंगे कि माघ कवि भारवि का पदानुगामी था और श्री हर्ष के काव्य को एक पाण्डित्य पूर्ण पद्य प्रबन्ध कहना चाहिए, काव्य नहीं। कहते हैं कि काव्य प्रकाश के कर्ता जब अपना ग्रन्थ लिख चुके— तब उनके हाथ में नैषध चरित का ग्रन्थ आया। कहते हैं उस समय उन्होंने कहा था कि यदि यह ग्रन्थ मेरी दृष्टि में पहले आजाता तो दोष प्रकरण के सारे उदाहरण मैं यहीं से निकाल देता। न जाने इस किंवदन्ती में सचाई कितनी है, परन्तु इस में सन्देह नहीं है कि नैषध में पाण्डित्य अधिक है—कवित्व कम। क्षेमेन्द्र कवि के ग्रन्थों की संख्या अवश्य बड़ी है परन्तु वह कल्पना की उड़ारी में उस स्थान तक नहीं पहुंचता, जिसका कालिदास के निम्नलिखित पद से वर्णन होता है—

'वायोरिमं प्रवहणस्य वदन्ति मार्गम्,

इस काल के काव्यों की संख्या साम्राज्य काल के काव्यों से कहीं अधिक होगी। परन्तु साहित्योदधि का मथन करने वाले जानते हैं कि उन में से कालिदास भारवि शूद्रक भवभूति के साथ का एक भी कवि नहीं हुआ। साम्राज्य काल के कवियों के ही सुशिष्यों से यह काल भरा पड़ा है।

इस का यह तात्पर्य न समझना चाहिये कि संस्कृत साहित्य के इस समय के गौरव को हम कम करना चाहते हैं। चन्द्र का प्रकाश सूर्य से कम है, इस में चन्द्र का कोई अपमान नहीं है। चन्द्र का अपना गौरव भिन्न ही है। यह साहित्य का यदि स्वर्णीय समय नहीं तो राजत समय अवश्य है। भारत की प्रतिभा वही थी, वह कहीं भाग नहीं गई थी, केवल उसे उन्नति के लिए केन्द्र नहीं मिला था, इस लिये उस का काफ़ी विकास न हो सका।

देखिए साधारण ऐतिहासिक दशाओं का साहित्य की विशेष दशाओं से कैसा गहरा सम्बन्ध है? क्या दोनों का एक दूसरे पर गहरा प्रभाव नहीं है?

पराधीन काल

अन्धकार

(१०)

अब हम ऐसे समय पर पहुंच गये हैं, जिस में भारत भूमि पर अन्ध-कार छा जाता है । कहीं २ कोई तारा अवश्य चमक रही है, किसी २ घर में दिया ज़रूर जल रहा है-- किन्तु वे सब अन्धकार की घनता को केवल बढ़ाने वाले हैं । ग्यारहवीं शताब्दि में मुसलमान घुड़सवार भारत में छाजाते हैं । सारा देश एक दम ही उन के काबू नहीं चढ़ जाता परन्तु भारत की काया की क्रियातन्तुओं के केन्द्र मुसल्मानों के काबू आजाते हैं । स्वाधीन राजनीतिक जीवन का सर्वथा अभाव सा हो जाता है । आगामी शताब्दियों के लिये भारत का स्वाधीन प्रसार रुक जाता है ।

इन नौसदियों की ऐतिहासिक सूचि देने का यत्न करना व्यर्थ है । इस समय की एक विशेषता सामने रख लेना ही हमारे कार्य के लिए पर्याप्त है । यद्यपि इस समय कई छोटे २ हिन्दू राजा हुए, कई विजया-भिलाषियों ने मुसल्मानों के दांत खट्टे किये तो भी राजनीतिक जीवन सर्वदा विचलित रहा । स्थिरता का चिन्ह भी न रहा। राज सत्ता परदेसियों के हाथ में जाती हुई दीखने लगी । ऐसे समय साहित्य के लिए बहुत उत्साह जनक नहीं होते ।

यह एक साधारण कारण था । साथ ही एक और बड़ी घटना भी स्पष्ट प्रतीत होती है । अनुकरण काल की एक विशेषता यह थी कि उस में भारत की राजकीय शक्ति के केन्द्र कई हो गए थे। भारत प्रान्तों या प्रदेशों में तो पहले ही बांटा हुआ था, फिर राज शक्ति की भिन्नता वाली इन तीन शताब्दियों ने प्रान्तिक भेदों को ऐन पक्का कर दिया। वह एकीकरण की ओर प्रयत्न जो साम्राज्य काल में प्रारम्भ हुआ था और जिसने न जाने कितने सिकन्दर सल्यूकस, मीनान्दर. और मिहिरागुला जैसे विदेशी आक्रमण कारियों के दांत खट्टे किए थे, वह एक दम निष्प्राण हो गया, निष्फल होयगा। भिन्नता ने भारत के प्रान्तों में घरकर लिया।

इस भिन्नता का राजनीतिक दशा पर जो प्रभाव पड़ा वह इसी बात से स्पष्ट है कि जहां आर्य जाति गत शताब्दियों में बड़े २ सभ्य विदेशी आक्रमणों से बच कर स्वाधीन रही थी वहां अब एक अशिक्षित यद्यपि शक्तिशाली जन समूह के सन्मुख न खड़ी हो सकी। क्या मुसल्मान सिकन्दर से अधिक शक्ति शाली थे ? क्या उनके पास ग्रीक लोगों से अधिक युद्ध कला थी ? क्या उन की सेना सल्यूकस और मीनान्दर के पाये की थी ? परन्तु इस समय भारत की वह एकता न था।

इस भेदभाव में कई कारण हुए। राजनीतिक और धार्मिक दशायें उन में मुख्य थीं। उन्हीं दशाओं से उत्पन्न होकर उस भेदभाव ने पहले से भी बुरी राजनीतिक तथा धार्मिक दशायें उत्पन्न कर दीं। धर्म में सम्प्रदायों पर सम्प्रदाय निकलने लगे। न जाने आर्य्य जाति के कितने देव उपास्य होगये।

इसी भेदप्रवृत्ति ने भाषा पर भी प्रभाव किया। पहले प्रान्तों की भिन्न २ भाषायें थीं – परन्तु अपरिपूर्ण दशा में थीं। सब प्रान्तों की एक संस्कृत भाषा व्याप्त सी हो रही थी। वह सारे प्रान्तों को एक शृंखला में बांधने वाली थी। देशभर के विद्वान् लोग उसी भाषा का प्रयोग करने लगे थे। बौद्धधर्म के प्रचार ने कुछ समय के लिये पालीभाषा को उत्साहित किया था—किन्तु शीघ्र ही वह दशा बदल गई। बुद्ध चरित जैसे ग्रन्थ भी संस्कृत में लिखे जाने लगे थे। किन्तु अब इतने दिनों की भिन्नस्थिति ने प्रान्त २ की भाषा को दृढ़ कर दिया। वे एक दूसरे से अधिकाधिक भिन्न उन्नति करने लगीं। स्वभावतः अनेक भाषाओं के स्थिर रूप पकड़ने ने संस्कृत भाषा के महत्त्व को घटाना प्रारम्भ कर दिया।

परदेसी आक्रमण के कारण देश में अस्थिरता उत्पन्न हो गई। वह केन्द्रशक्ति न रही जो साहित्य को आश्रय दे। उधर इतनी शताब्दियों की भिन्नता ने अनेक भाषाओं के रूप को स्थिरता प्रदान करदी थी, इस से भी संस्कृत की वह व्यापकता न रही जो पहले थी। आगे नौ सदियों तक यह दशा बिगड़ती ही गई—सुधरी नहीं। देश की जगह प्रान्तों को इतनी मुख्यता मिलने लगी कि प्रान्तों के कवियों ने प्रान्तिक भाषाओं में कविता करने को अधिक रुचिकर समझा। इस लिये संस्कृत साहित्य की उन्नति के साम्हने एक चट्टानसी लग गई।

यह कहना सर्वथा अयथार्थ है कि अगली नौ सदियों में संस्कृत साहित्य क्षेत्र में नई उपज हुई ही नहीं; किसी कवि ने कविता की ही

नहीं; अनेक कवि हुए, परन्तु साहित्य के इतिहास लेखक उनके नामों में से बहुतों का स्मरण करना आवश्यक नहीं समझते। थोड़े से ही नाम हैं–जो लिये जासकते हैं, और उनमें से भी विशेषतया आदर योग्य पण्डित राज जगन्नाथ है, जो शाहजहां के पुत्र दारा के आश्रय में रहता था। स्मरण रखना चाहिये कि अकबर के समय से शाहजहां के राज्य काल की समाप्ति तक भारत वर्ष में विशेष दशा थी। उस समय एक विदेशी राजपुत्र ने भी संस्कृत को आश्रय दिया। जगन्नाथ दारा के ही आश्रय में रहसकता था—अन्यथा नहीं। यदि थोड़े से नामों को छोड़ कर इस समय को ढूंढ़-ने लगें तो खाली हाथ लौटना पड़ेगा। वास्तव कवियों के नाम ढूंढने से भी न मिलेंगे। कवियों की सत्ता स्वाधीन विकास की सूचिका होती है। जिस समय में कवि नहीं है—समझ लीजिये वह प्रतिभा के स्वा-धीन विकास का समय नहीं है। राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक अत्याचार कविता के परम शत्रु हैं। मुसलमानों के समय में इन तीनों प्रकार के अत्याचारों का दौर दौरा था। तब भला कविता का विकास कैसे सम्भव था?

इसका यह अभिप्राय नहीं कि इतनी सदियों तक भारतीय बुद्धि के ताले सर्वथा बन्द रहे। कई शाखाओं में बहुत उन्नति हुई। अलं-कार शास्त्र ने विशेष उन्नति की, व्याकरण के कई अटूट ग्रन्थ बने विशेष-तया नवीन न्याय और नवीन वेदान्त ने खूब दौड़ लगाई। ये सब उन्नतियां हुईं पर एक विशेष बात यहां भी देखने योग्य है। लेखक हुए परन्तु उन में से एक भी ऐसा नहीं हुआ जिसने कोई दार्शनिक पद्धति स्थापित की हो। बड़े दर्शनकारों का समय दूर है—उसे जाने दीजिये। इस समय में कुमारिल और शंकर जैसे नई ही शास्त्र पद्धति के संस्थापक दृष्टिगोचर नहीं होते। बुद्धि की गति लुप्त नहीं हुई परन्तु उस में स्वच्छन्दता नहीं रही। उस का बाधारहित विकास रुका सा रहा। न्याय में भी ऐसे ही ग्रन्थ बने जिन्होंने पहले से स्थापित सिद्धान्तों को पुष्ट किया या बाल की खाल उतार कर तर्क को अतिशय तक पहुंचा दिया।

यह भारत के इतिहास का अन्धकार काल है। इस काल का अभी अन्त नहीं हुआ। भारत वर्ष का राजनीतिक इतिहास लेखक इस समय पर आंसू बहाता है— और संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखक की आंखों में वे आंसू रक्त के आंसू हो जाते हैं। भगवन्! क्या कभी इस अन्ध-कार काल का नाश भी होगा?

अन्तिमसूचनायें

इस निबन्ध में दो तीन बातें मान लीगई है। साहित्य शब्द का यहां वह व्यापक अर्थ नहीं है, जो अंग्रेजी के Litrature शब्द का है। यहां साहित्य शब्द का प्रयोग ललित—साहित्य के अर्थ में है, और वस्तुतः साहित्यशब्द का मूलार्थ है भी यही। Litrature के लिए संस्कृत में वाङ्मय शब्द है।

निबन्ध में इतिहास को तिन भागों में बांटा गया है- उनके लिये निबन्ध लेखक ही उत्तर दाता है। उस की सम्मति है कि यदि इन भागों में साहित्य को बांट कर पढ़ा जाय, तो वह अनुशीलन सार्थक होगा—अन्यथा नहीं।

निबन्ध का विषय है भारत वर्ष के इतिहास का अर्वाचीन संस्कृत सहित्य के साथ सम्बन्ध। अर्वाचीन काल का प्रारम्भ हमने रामायण से किया है। उस समय से लेकर अन्धकार काल तक जितने भी काल हैं—सब के विषय में संक्षेप से लिखा गया है। निबन्ध की काया आज्ञा नहीं देती थी कि इन विषयों में और अधिक विस्तार से लिखाजाय। नहीं तो इन में से एक २ काल एक २ पुस्तक चाहता है।

इन्द्र

श्रीयुत इन्द्र विद्यावाचस्पति के ग्रन्थ

उपयोगी पुस्तकें

नैपोलियन बोनापार्ट की जीवनि—(दूसरी आवृत्ति छप रही है) महावीर नैपोलियन का जीवनचरित सारे साहित्य संसार में बहुत ही पसन्द किया गया है। है तो जीवनि—किन्तु आनन्द उपन्यास का मिलता है ॥)

प्रिन्सबिस्मार्क—जर्मनसाम्राज्य के जन्मदाता प्रिन्सबिस्मार्क की जीवनि आजकल शिक्षित मात्र के लिए आवश्यक है। आज जो जर्मनी संसार के महाभारत में इतना भाग लेरहा है वह कैसे बना इसे जानना हो तो इस पुस्तक को पढ़ो। मूल्य १॥)

उपनिषदों की भूमिका—थोड़े में उपनिषदों का सार पढ़ना हो तो इस पुस्तिका को पढ़िये। पढ़ने वालों ने इसे बड़ा पसन्द किया है।

काव्य ग्रन्थ

गुरुकुल गीत - गुरुकुल माता के एक पुत्र की माता के चरणों में प्रेम भेंट। मूल्य ‑)

हृदयोद्‌गार भारत माता के विषय में एक भारत पुत्र का विनीत हृदयोद्‌गार। मूल्य

श्री महात्मा मुन्शीराम जी का लिखा हुआ

आर्यपथिक पं० लेखराम—का जीवनचरित किस आर्य पुरुष को न चाहिये। आर्यपथिक की जीवनि और महात्मा जी की लिखी, मानो सोने में सुगन्ध है। महात्मा जी ने एक भारी अभाव को पूर्ण किया है। पुस्तक शीघ्र लीजिये। मूल्य १)

उत्तम उपन्यास

मानवती—यह एक मनोरंजक उपदेश प्रद उपन्यास है। पढ़ने योग्य वस्तु है। मूल्य ॥)